-: बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम :-

पहले मुझे पढ़ें

अल्लाह तआला का बहुत-बहुत शुक्र-ओ-एहसान है कि उसने प्रोफेसर हाफ़िज़ मुहम्मद अब्दुल्लाह 'बहावलपुरी' साहब की ये संक्षिप्त लेकिन भरपूर किताब को दूसरी बार छपवाने की हमें तौफ़ीक़ बख़्शी। जब ये किताब (उर्दू में) मेरे हाथों लगी और मैने इसका अध्ययन किया तो ऐसा लगा था जैसे कि जिस किताब की जरूरत या तलाश थी या जिन सवालात के जवाबात की सख़्त ज़रूरत थी वो अल्लाह ने मुझे भेज दी । आज जमाअत अहलेहदीस के खिलाफ़ जितने भी गलत प्रोपेगण्डा मुक़ल्लदीन की ओर से किये जा रहे हैं और रसूल (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) की इत्तिबाअ़ व इताअ़त को छोड़कर अवाम को तक़लीद के अन्धें कुएँ में ढकेलने की कोशिशें की जा रही हैं। तक़्लीदी धर्म को मुकम्मल तौर पर हक़ और कुरआन व सुन्नत की ताअ़्लीमात को अधूरा व नामुकम्मल बताया जा रहा है। जिससे अ़वाम कुरआन व सुन्नत की ताअ़्लीमात पर अ़मल करने वाली ज़माअत अहलेहदीस को बातिल और फ़ित्ना वाली जमाअ़त समझ रही है (हालांकि अब तो तमाम किताबों, कैसेटों व सी0डी0 के जरिये भी जमाअ़त अहलेहदीस के ओ़लमा इसका मुँहतोड़ जवाब दे चुके हैं और दे रहे हैं जिससे भोली-भाली नावाकिफ़ अवाम अब उनके चंगुल में नहीं फंस रही है) और बहुत से खानदानी अहलेहदीस हज़रात भी इन मुक़ल्लदीन की कुछ जमाअ़त को हक़ के करीब समझते हैं और अपनी नमाज़ें भी उनके पीछे सही व दुरूस्त समझकर अदा कर रहे हैं। उन सभी लोगों की जानकारी के लिये कुरआन व हदीस से मुदल्लल ये नायाब किताब राह - ए - मशाल बनेगी । (इन्शाअल्लाह)

इस छोटी सी किताब में सवाल व जवाब के अन्दाज़ में इस मसअ्ले से सम्बन्धित सन्देहों को बड़े ही सरल तरीक़े से और अच्छे अन्दाज़ में व कम शब्दों में समझाया गया है जिसे एक आ़लिम तो आ़लिम, कम इल्म वाले भी बहुत ही आसानी से और जल्दी समझ सकते हैं । आज देवबन्दी, तब्लीग़ी, बरेलवी, दावते इस्लामी, जमाअ़त इस्लामी, जमाअ़त मुस्लेमीन वग़ैरह-वग़ैरह जितनी भी जमाअ़तें व गिरोह हैं वो सब बातिल हैं सिर्फ़ अहलेहदीस ही हक़ है और क़यामत तक वो

ही हक़ रहेगी, जिसे दुनिया का कोई भी इन्सान गलत साबित नहीं कर सकता। (इन्शाअल्लाह) चूंकि ये किताव हिन्दी जानने वाले मुस्लिम भाईयों के लिए उर्दू से हिन्दी अनुवाद करके छापी जा रही है इसलिये अनुवाद करते समय इस बात का ख़्याल रखा गया है कि किताव पढ़ने में वहुत कठिन न होने पाये इसलिये जहां-जहां जरूरी समझा गया वहां-वहां हिन्दी अनुवाद किया गया । अधिकांशतः सिर्फ उर्दू से हिन्दी में 'लिपि परिवर्तन' ही किया गया है । मानव स्वभाव के चलते गलतियां होना स्वाभाविक है अतः जहां कहीं अनुवाद करने में गलतियां हुई हों, कृपया करके पाठकगण उन गलतियों की निशानदेही अवश्य करावें ताकि तीसरे संस्करण (इन्शाअल्लाह) में उन गलतियों को सुधारा जा सके । इस्लामिक रिसर्च सेन्टर (जो कि इस्लामिक वेलफेयर सोसाइटी के अन्तर्गत रजिस्टर्ड हो चुका है) ने पिछले लगभग छः सालों से 'शिर्क-ओ-विद्अ़त के ख़िलाफ़ ऐलान -ए- जंग' की मुहिम छेड़ रक्खा है और खासतौर से हिन्दी के मैदान में काम शुरू कर रक्खा है। अल्लाह की तौफ़ीक़ से अव तक अलग-अलग मज़मूनों पर हिन्दी में कई 'मुहम्मदी इश्तिहार' निकाले जा चुके हैं। जिसे अल्लाह की तौफ़ीक़ से हिन्दुस्तान के कोने-कोने में पहुँचाने की कोशिश की जा रही है । इस किताब के पीछे हिस्से में उन इश्तिहारों की फ़ेहरिस्त भी दी जा रही है, जिसे आप डाक के ज़रिये मंगा सकते हैं । इस किताव को लोगों की हिदायत व रहनुमाई के मक़सद से छापा जा रहा है। लिहाज़ा आप लोग भी इसे ज़्यादा से ज़्यादा खरीदकर व छपवाकर लोगों में बाँटें, ताकि हक़ से नावाक़िफ़ अ़वाम हक़ को जान व समझ सके और हक़ व वातिल की पहचान करके क़ुरआन व सुन्नत वाली जमाअ़त अहलेहदीस के साथ लगकर अपनी दीन - दुनिया संवार सकें । आख़िर में अल्लाह तआ़ला से दुआ़ है कि इस किताव के लेखक व अनुवादक और जिन - जिन लोगों ने इसको छपवाने में अपना सहयोग दिया है उन्हें इसका भरपूर सिला दे और हम सभी लोगों की निजात का ज़रिया वनाये । तमाम मुसलमान मर्द व औरत को इस किताव के ज़रिये से हक़ व वातिल को समझने हक़ को अपनाने और उस पर अ़मल करने की तौफ़ीक़ अ़ता फ़रमाये । (आमीन)

खुर्शीद 'मुहम्मदी'

-: बिस्मिल्लाहिर्रहमानिर्रहीम :-

अहलेहदीस की नमाज़-मुक़ल्लिद के पीछे

अस्सलामो अ़लैकुम वरहमतुल्लाह

वाअ़लैकुम अस्सलाम वरहमतुल्लाह व बरकातहू

वहुत दिनों के वाद तशरीफ़ लाये

कहिये आज कैसे आना हुआ ?

सवाल- एक मसअ़ला पूछना था।

ज़वाव- वो क्या है?

सवाल- क्या एक अहलेहदीस की नमाज़ किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे हो जाती है?

जवाव- अहलेहदीस की नमाज़ किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे कैसे हो सकती है? कि अहलेहदीस हक़ (सत्य) और ग़ैर अहलेहदीस बातिल (असत्य)। बातिल, हक़ का इमाम कैसे हो सकता है? और फिर हक़ बातिल को अपना इमाम कैसे बना सकता है। किसी को इमाम वनाना तो गोया उसके ताबेअ़ (अधीन) होना है, अगर हक़ बातिल के ताबेअ़ हो जाये तो दीन का सारा सिलसिला ही खराब हो जाये। क़ुरआन मजीद में है "और अगर हक़ उनकी ख़्वाहिशात की पैरवी करने लगे तो आसमान और ज़मीन और जो उनमें है दरहम-बरहम हो जायें।(अल मोमेनून-71) अगर अहलेहदीस, ग़ैर अहलेहदीस के पीछे नमाज़ें पढ़ने लग जायें तो हक़ कहाँ रहा ? हक़ की श्रेष्ठता (फ़ौक़ियत) तो ख़त्म हो गयी। हक़ है ही अपनी श्रेष्ठता के साथ । "जो श्रेष्ठता न रही तो हक़ न रहा"। हक़ की बक़ा हक़ की श्रेष्ठता में है और हक़ की श्रेष्ठता इमाम और मुक़्तदा (जिसकी पैरवी की जाये) वनने में है न कि मुक़्तदी (अनुयायी) वनने में। जब हक़ बातिल का मुक़्तदी वन गया तो मामला विल्कुल उलट गया। अव अहलेहदीस या तो अपने आपको हक़ न कहें और अगर वो अपने आप को हक़ कहते हैं और हक़ समझते हैं तो वातिल को अपना इमाम न वनायें। वो हक ही क्या हुआ जो वातिल को अपना इमाम मान ले और उसके पीछे नमाज़ें पढ़ने लग जाये। हक़ की शान ये नहीं कि वो मुक़्तदी वने, हक़ की शान ये है कि वो इमाम हो। हक़ इमाम है उसको इमाम ही रहना चाहिये। रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) का इसीलिये कोई

इमाम नहीं बन सकता था, यहां तक कि आप के जनाज़े में भी कोई आप (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) का इमाम नहीं बना। इसी उसूल पर तो औरत, मर्दों की इमाम नहीं बन सकती चाहे वो इल्म व तक़वा में मर्दों से भी ज़्यादा हो। औरत दर्जे में मर्द से कम है इसीलिये अल्लाह तआ़ला ने औ़रत को मर्द के तावेअ़ (अधीन) रक्खा है। वो मर्द की इमाम नहीं वन सकती अगर औरत मर्दों की इमाम बनें तो इसमें मर्द की तौहीन (अपमान) है। जव औरत मर्द की इमाम नहीं बन सकती क्योंकि इसमें मर्द की तौहीन है तो बातिल (असत्य) हक़ (सत्य) का इमाम कैसे बन सकता है? क्या वातिल के इमाम बनने में हक़ की तौहीन नहीं है? हक़ बातिल को मिटाने के लिये आया है। "हक़ आ गया और बातिल मिट गया, बेशक बातिल मिट ही जाने वाली चीज़ है"। (बनी इस्राईल-81) न कि उसको अपना इमाम बनाकर उसको इज़्ज़त (सम्मान) बख़्शे । अहलेहदीस अगर किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे नमाज़ पढ़े तो इसमें अहलेहदीस की बड़ी तौहीन है । ग़ैर अहलेहदीस अगर अहलेहदीस का इमाम बन जाये तो इससे ग़ैर अहलेहदीस की अहलेहदीस से बराबरी बल्कि वरतरी (श्रेष्ठता) लाज़िम आती है और बातिल की हक़ से बरतरी बल्कि बरावरी शरअ़न कभी जायज़ नहीं हो सकती । वो काम कैसे जायज़ हो सकता है जिसमें हक़ की तौहीन हो, इसलिये अहलेहदीस की नमाज़ किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे कभी जायज़ नहीं हो सकती। हक़ की इज़्ज़त बल्किआफ़ियत (सुरक्षा) वातिल से दूर रहने में है। वातिल से मेल-जोल करने में हक़ की ख़ैर नहीं। वातिल से मेल-मिलाप करने से हक़ गिर जाता है और बातिल चढ़ जाता है । मिलावट में हमेशा आ़ला (सर्वश्रेष्ठ) की क़ीमत गिरती है और अदना (तुच्छ) की चढ़ती है। ख़ुश्वू और बदवू को मिला दिया जाये तो बदबू हावी हो जाती है। वातिल से मेल-जोल करने में बातिल की नफ़रत कम हो जाती है जिससे बातिल अपनी वाहरी टीप-टाप और झूठे आकर्षण की वजह से अ़वाम की गुमराही का सवव (कारण) वनता है जो वहुत वड़ा नुक्सान है। इसी वजह से रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने अहले बिद्अ़त से दूर रहने का हुक्म दिया है। चुनांचे आप (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने फ़रमाया "उनसे मेल-जोल न रखो"। कुरआन मजीद में है "अहले वातिल के पास भी न बैठो अगर भूल कर वैठ जाओ तो याद आने के साथ ही फ़ौरन उठ

जाओ"।(अल अनआ़म-68) ये मेल-जोल ही का नतीजा (परिणाम) है जो गुमराही आज कल जो़रों पर है, अहलेहदीस देवबन्दी वनते जा रहे हैं और देवबन्दी बरेलवी और बरेलवी शिया । बातिल को इमाम बनाने में हक़ की तज़लील (अपमान) और बातिल की तकरीम (सम्मान) है, इसलिये अहलेहदीस को चूंकि वो हक़ है किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे कभी नमाज़ नहीं पढ़नी चाहिये। ये कैसी अजीब बात है कि रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) तो वातिल से दूर रहने का हुक्म दें और अहलेहदीस बातिल को अपना इमाम बनाने के लिये तैयार हो जायें ।

सवाल- क्या ग़ैर अहलेहदीस सब ही वातिल (असत्य) हैं ?

जवाव- जब अहलेहदीस ही हक़ है तो कोई भी ग़ैर अहलेहदीस हक़ नहीं हो सकता । ग़ैर तो ग़ैर ही होता है वो ग़ैर ही क्या जो विलोम (मग़ाएर) न हो और हक़ का विलोम बातिल है। जैसे हक़ और ग़ैर हक़ दोनों हक़ नहीं हो सकते, उसी तरह अहलेहदीस और ग़ैर अहलेहदीस दोनों हक़ नहीं हो सकते। हक़ एक ही होगा अहलेहदीस या ग़ैर अहलेहदीस, जब अहलेहदीस ही हक़ है तो ग़ैर अहलेहदीस ज़रूर ग़ैर हक़ होगा और जो ग़ैर हक़ हो वो ज़रूर वातिल होगा। इसलिये ग़ैर अहलेहदीस सब बातिल हैं।

सवाल- इसका क्या सुबूत है कि अहलेहदीस ही हक़ है और कोई नहीं?

जवाव- किसी फ़िरक़े के हक़ में होने के लिये तीन शर्तें ज़रूरी हैं । (1) वो फ़िरक़ा हुज़ूर (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के ज़माने से हो बल्कि खुद आप (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने उसकी जड़-बुनियाद रखी हो अगर कोई फ़िरक़ा हुज़ूर (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के वाद पैदा हुआ हो तो वो नौमौलूद (नवजात) है जिसको विद्अ़ती कहा जा सकता हैं और विद्अ़ती फ़िरक़ा कभी हक़ नहीं हो सकता ।

(2) वो फ़िरक़ा हमेशा और हर ज़माने में मौजूद हो कोई ज़माना उससे खाली न हो । विभिन्न हदीसों में विभिन्न शब्द आये है अर्थात् रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम)ने फ़रमाया "मेरी उम्मत में से एक गिरोह हमेशा हक़ पर रहेगा और ग़ालिव (विजयी) रहेगा बातिल फ़िरक़े ख़्वाह उससे वरसरे पैकार (युद्धरत्) ही रहें वो क़यामत तक नहीं मिटेगा, अल्लाह उसका नासिर व मददगार रहेगा । जो फ़िरक़ा किसी ज़माने में हो किसी में न हो वो कभी हक़ नहीं हो सकता ।

सवाल- हर ज़माने में होना क्यों ज़रूरी है ?

जवाब- ताकि हर ज़माने में दुनिया को हिदायत (मार्गदर्शन) मिलती रहे और नये नवी की ज़रूरत न पड़े । जब अल्लाह ने ये ऐलान कर दिया कि मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) आखिरी नवी हैं, उनके वाद कोई नया नवी नहीं आयेगा तो अहले हक़ का हर ज़माने में मौजूद होना ज़रूरी है क्योंकि वो नवी के खोलफ़ा और क़ाएम मुक़ाम (उत्तराधिकारी) हैं।

(3) वो फ़िरक़ा "मा अना अ़लैहे व अस्हावी अलयौम" के तरीक़े पर हो । वो सीधा-सादा कुरआन-ओ-हदीस पर अ़मल करने वाला हो, उसका अन्दाज़ उसके अक़ाएद व मसाएल वही हों जो सहावा के थे । उसमें कोई नया मज़हवी रंग न आया हो, बिद्आ़त को जज़्ब (ग्रहण) करने की उसमें विल्कुल सलाहियत (क्षमता) न हो ।

इन तीनों पैमानों पर सिर्फ़ जमाअ़त अहलेहदीस ही पूरी पूरी उतरती है और कोई फ़िरक़ा इस पैमाने पर पूरा नहीं उतरता है । अहलेहदीस के सिवा जितने भी फ़िरक़े हैं सव नौमौलूद (नवजात) हैं उनमें से कोई भी रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के ज़माने में मौजूद नहीं था ख़ासतौर पर मुक़ल्लदीन । हनफ़ी हों या शाफ़अ़ी देववन्दी हों या वरेलवी सब रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के वाद की पैदावार हैं । जव मुक़ल्लदीन के इमाम वग़ैरह हुज़ूर (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के ज़माने में पैदा नहीं हुए थे तो मुक़ल्लदीन कहाँ से पैदा होंगे इसलिए सहावा में कोई हनफ़ी या शाफ़अ़ी, देववन्दी, वरेलवी, चिश्ती, सहरवर्दी न था। इसके विपरीत अहलेहदीस उस वक्त से हैं जव से कुरआन-ओ-हदीस है। हदीस अल्लाह और रसूल की वात को कहते हैं, अतः पहले अहलेहदीस सहावा थे जो अल्लाह व रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की वात क़ुरआन व हदीस पर अ़मल करते थे । आज भी अहलेहदीस हैं वो सहावा की तरह कुरआन व हदीस पर ही अ़मल करते हैं, किसी की तक़लीद नहीं करते अहलेहदीस आज भी "मा अना अ़लैहे व स्हावी" के सही तरीके पर हैं-माशाअल्लाह। अहलेहदीस ही वो जमाअ़त है जो रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के ज़माने से लेकर आज तक चली आ रही है, वो हमेशा से रही है और हमेशा रहेगी । ये हुज़ूर (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के ज़माने में भी थी और आखिर में हज़रत ईसा (अ़लैहिस्सलाम) और इमाम मेहदी के ज़माने में भी होगी वल्कि ईसा (अ़लैहिस्सलाम) और इमाम मेहदी कुरआन व हदीस पर अ़मल करने वाले

अहलेहदीस होंगे । वो मुक़ल्लिदों की तरह हनफ़ी व शाफ़ई, देवबन्दी, बरेलवी न होंगे बल्कि कुरआन व हदीस पर चलने वाले अहलेहदीस होंगे । अब खुद ही सोचें क्या ईसा (अ़लैहिस्सलाम) हनफ़ी या शाफ़ई, देवबन्दी या बरेलवी हो सकते हैं, क्या एक नबी किसी उम्मती का मुक़ल्लिद हो सकता है?

सवाल- ये बात तो सही है कि नबी किसी उम्मती का मुक़ल्लिद नहीं हो सकता ।

जवाब- जब नबी किसी उम्मती का मुक़ल्लिद नहीं हो सकता तो ईसा (अ़लैहिस्सलाम) यक़ीनन हनफ़ी नहीं होंगे, क्योंकि हनफ़ी बनने में ईसा (अ़लैहिस्सलाम) की बड़ी तौहीन है । जब ईसा(अ़लैहिस्सलाम) हनफ़ी नहीं होंगे क्योंकि हनफ़ियत उनके लिए ज़िल्लत व तौहीन का मज़हब है तो उस ज़माने के मुसलमान भी हनफ़ी नहीं होंगे, उनका मज़हब भी वही होगा जो ईसा (अ़लैहिस्सलाम) का होगा । ईसा (अ़लैहिस्सलाम) का मज़हब कुरआन व हदीस होगा । वो हुज़ूर (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के मुत्तबेअ़ (पैरवी करने वाले) होंगे और यही मज़हब अहलेहदीस है और यही असली इस्लाम है और ये नबी हो या उम्मती सबके लिए क़ाबिल-ए-इज़्ज़त और क़ाबिल-ए-कुबूल है । इसलिये ईसा (अ़लैहिस्सलाम) भी अहलेहदीस होंगे और तमाम मुसलमान भी । उस ज़माने का कोई मुसलमान हनफ़ी, शाफ़ई, देवबन्दी, बरेलवी न होगा बल्कि सब अहलेहदीस होंगे । साबित हुआ कि अहलेहदीस ही हुज़ूर (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के ज़माने में थे और अहलेहदीस ही आखिरी ज़माने में होंगे ।

अहलेहदीस जमाअ़त ही वो जमाअ़त है जिसमें बिद्आ़त की कोई गुंजाइश नहीं, बाकी तमाम फ़िरक़े चूंकि बाद की पैदावार हैं और तक़्लीदी अ़मल से पैदा हुए हैं इसलिये सब बुनियादी तौर पर 'बिद्अ़ती' हैं और बिद्आ़त को जज़्ब करने की बहुत सलाहियत रखते हैं । हर तक़्लीदी फ़िरक़ा बिद्अ़ती है क्योंकि तक़्लीद खुद बिद्अ़त है । अहलेहदीस कुरआन-ओ-हदीस के पाबन्द हैं, न उनमें तक़्लीद है कि वो किसी को अपना इमाम बनाये न उनमें तसव्वुफ़ के सिलसिले हैं कि वो चिश्ती या क़ादरी बनकर ज़र्बें लगायें । अहलेहदीस का अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के बाद कोई दीनी इमाम या मज़हबी पेशवा नहीं, वो सिर्फ़ हदीसे रसूल से साबित शुदा सुन्नत-ए-रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) पर ही अ़मल करते हैं । इसलिये बिद्आ़त की तमाम खुराफ़ात से बचे हुए हैं, इसलिये अहलेहदीस ही ख़ालिस इस्लाम और हक़ है और कोई फ़िरक़ा ऐसा नहीं जिसको हक़ कह सकें क्योंकि सबमें खोट और

भर्ती है।

ये तो थीं किसी फ़िरक़े के हक़ होने की शर्तें और निशानियां। अब देखें कि **हक़ किसे कहते है और अहले हक़ कौन लोग हैं?**

हक़ वो है जो अल्लाह कहे या जो अल्लाह की तरफ़ से हो।

कुरआन मजीद में है- "और अल्लाह हक़ बात कहता है और हमें सीधी राह दिखाता है।" (अहज़ाब-4)

"हक़ तेरे रब की जानिब से है।" (बक़रः-147)

"कह दीजिये कि अल्लाह की रहनुमाई (मार्ग-दर्शन) ही असल हिदायत है।"(बक़रः-120)

"उस किताब पर ईमान लाये जो मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) पर नाज़िल की गयी है और वो उनके रब के तरफ़ से है भी बर हक़।" (मुहम्मद-2)

कुरआन मजीद में इस तरह की बहुत सी आयतें हैं जिनसे साबित होता है कि अल्लाह ने जो अपने नबी पर नाज़िल किया है वो हक़ (सत्य) है, चूंकि अल्लाह ने अपने नबी पर कुरआन व हदीस नाज़िल (उतारा) किया है । "और अल्लाह ने आप पर <u>किताब</u> और <u>हिकमत</u> नाज़िल की है।" (निसा-113)

इसलिये हक़ सिर्फ़ कुरआन व हदीस है और जो कुरआन व हदीस को बिना कमी-बेशी किये मानें वही अहले हक़ हैं । कुरआन व हदीस ही असल इस्लाम है उसकी अ़मली ताबीर करते हुए हम ये कह सकते हैं कि 'इस्लाम हर ज़माने में अपने नबी की पैरवी करने का नाम है।' नूह (अ़लैहिस्सलाम) और इब्राहीम (अ़लैहिस्सलाम) के ज़माने में इस्लाम उनकी पैरवी करने का नाम था। मूसा व ईसा (अ़लैहिस्सलाम) के ज़माने में इस्लाम उनकी पैरवी का नाम था और आज इस्लाम सिर्फ़ मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी का नाम है। आज अहले हक़ वो ही हो सकते हैं जो मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी करें । किसी पीर, फ़क़ीर या इमाम और वली की पैरवी करने वाले अहले हक़ नहीं हो सकते, अहले हक़ सिर्फ़ अहलेहदीस ही हो सकते हैं । इसलिये हम कहते हैं कि इमामों के मुक़ल्लिद हनफ़ी हों या शाफ़अ़ी, देवबन्दी हों या बरेलवी कभी अहले हक़ नहीं हो सकते । अहले हक़ सिर्फ़ अहलेहदीस ही हो सकते हैं जो सिर्फ़ मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी करते हैं, किसी पीर, फ़क़ीर या इमाम और वली की तक़्लीद नहीं करते हैं। मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी करने वाले इसलिये भी अहले हक़ हैं क्योंकि मुहम्मद-ए-रसूल

(सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) खुद हक़ पर हैं इसलिये अल्लाह तआ़ला ने सिर्फ़ मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के हक़ होने की गारन्टी दी है, किसी पीर, फ़कीर या इमाम और वली के हक़ पर होने की गारन्टी नहीं दी । कुरआन कहता है-" और मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) अपनी ख़्वाहिश से नहीं वोलते वल्कि वो वही है जो उनकी तरफ़ भेजी जाती है।" (नजम-3,4)
"वेशक आप सरीह हक़ पर हैं।" (नमल-79)
"सो आप की तरफ़ जो कुछ वही किया गया है उस पर मज़वूती से क़ायम रहिये, यकीन रखिये कि आप सीधी राह पर हैं ।" (जुख़रुफ़-43)
"जिसने रसूल की इताअ़त की तहक़ीक़ उसने अल्लाह की इताअ़त की।"(निसा-80)

इसलिये अल्लाह तआ़ला ने सिर्फ़ अपने नबी की पैरवी का हुक्म दिया है और किसी की पैरवी का हुक्म नहीं दिया बल्कि औरों की पैरवी से मना किया है । "तुम्हारे रब की ओर से तुम्हारी तरफ़ जो कुछ भी नाज़िल किया गया है उसी की पैरवी करो और अल्लाह को छोड़ कर वलियों (दोस्तों-बुजुर्गों) की पैरवी न करो।"(आराफ़-2) और नबी (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी पर ही अपनी मुहव्वत और मग़फ़िरत (क्षमा) का वादा फ़रमाया है और नबी की इताअ़त (पैरवी) से विरोध को कुफ़्र बताया है, चुनांचे फ़रमाया- "ऐ नबी! आप लोगों से कह दें कि अगर तुम्हें अल्लाह से मुहव्वत है तो मेरी पैरवी करो फिर अल्लाह तुमसे मुहब्बत करेगा और तुम्हारे गुनाह माफ़ करेगा। आप लोगों से ये भी कह दें कि अल्लाह और उसके रसूल की पैरवी करो अगर तुमने उनकी पैरवी से विरोध (एअ़राज़) किया तो काफ़िर हो जाओगे और काफ़िरों से अल्लाह मुहव्वत नहीं करता ।" (आल इमरान-31,32)
जव ये तय है कि आज इस्लाम सिर्फ़ मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी का नाम है तो आज अहले हक़ सिर्फ़ वो ही हैं जो मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी करते हैं और मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी उनकी सुन्नत पर चलने ही से हो सकती है। इसलिये आज अहले हक़ सिर्फ़ असली अहले सुन्नत ही हैं ।
सवाल- फिर तो वरेलवी अहले हक़ हुये क्योंकि अहले सुन्नत आज- कल वही कहलाते हैं ?
जवाब- बरेलवी सिर्फ़ अहले सुन्नत नहीं कहलाते वो हनफ़ी, बरेलवी, रज़वी

वग़ैरह और भी बहुत कुछ साथ कहलाते हैं। इसलिये वो असली अहले सुन्नत नहीं अगर वो असली या ख़ालिस अहले सुन्नत होते तो अहले सुन्नत पर ही ब्रेक मारते आगे बिल्कुल न जाते । उन्होंने अहले सुन्नत पर स्टॉप नहीं किया बल्कि आगे निकल गये, वो पहले हनफ़ी बने फिर बरेलवी । इसका साफ मतलब ये है कि वो अब अहले सुन्नत नहीं अगर अहले सुन्नत हो तो फिर हनफ़ी और वरेलवी वनने का सवाल ही पैदा नहीं होता।

हक़ एक ऐसी इकाई है कि उससे आगे निकलना भी गुमराही है और उससे पीछे रहना भी । कुरआन का ऐलान है-"हक़ के अ़लावा सब गुमराही है इसलिये इधर-उधर कहाँ जाते हो ?" (यूनुस-32)

जो असली अहले सुन्नत हो वो हनफ़ी नहीं हो सकता और जो हनफ़ी बन जाये वो अहले सुन्नत नहीं रह सकता क्योंकि अहले सुन्नत 'नबी की सुन्नत पर चलने वाले' को कहते हैं और हनफ़ी 'इमाम अबू हनीफ़ा की तक़्लीद करने वाले' को, इसलिये हनफ़ी अहले सुन्नत नहीं हो सकता । अहले सुन्नत नबी की सुन्नत पर चलता है जो नबी की सही हदीस से साबित होती है, हनफ़ी, फ़िक़्ह-हनफ़ी पर चलता है जो तक़्लीद दर तक़्लीद से बनती है । करे तक़्लीद इमाम अबू हनीफ़ा की और कहलाये अहले सुन्नत ?
ये इन्साफ़ नहीं, जाये कूफ़ा को और राह पूछे मदीने का, ये अख़्लास नहीं । असली अहले सुन्नत कभी हनफ़ी नहीं बनता क्योंकि अ़हले सुन्नत बनने के बाद हनफ़ी बनना पतन है तरक़्क़ी नहीं, गुमराही है हिदायत नहीं । हिदायत व तरक़्क़ी असली और ख़ालिस (विशुद्ध) अहले सुन्नत बनने में ही है।
सवाल- आप लोग फिर अहलेहदीस क्यूँ बन गये ?
जवाब- ताकि असली और ख़ालिस अहले सुन्नत बन सकें। मेरे भाई, अहलेहदीस कोई और फ़िरक़ा नहीं ये अहले सुन्नत ही का तआ़रूफ़ी (परिचयात्मक) और वज़ाहती (स्पष्ट करने वाला) नाम है । ये एक ही चीज़ के दो नाम है, अहलेहदीस नाम से अहले सुन्नत का मफ़हूम (अर्थ) वाज़ेह (स्पष्ट) होता है । अहले सुन्नत की सीमा-परिधि निर्धारित होती हैं । हदीस, सुन्नत के लिये कैद और शर्त है । हदीस ही से सुन्नत और बिद्अ़त में फ़र्क़ होता है अगर कोई सुन्नत सही हदीस से साबित न हो तो वो सुन्नत नहीं वो बिद्अ़त है । हदीस सुन्नत का घर है, हदीस से बेपरवाही, सुन्नत से महरूमी (वंचित होना) है । इसलिये अहले सुन्नत बनने के लिये अहलेहदीस बनना ज़रूरी है । जो अहलेहदीस बने बग़ैर अहले

सुन्नत बनने की कोशिश करता है वो फिर बरेलवियों की तरह का हो जाता है, उसे फिर बिद्अ़त ही सुन्नत नज़र आने लग जाती है। बरेलवियों का हाल आपके सामने है उन्होंने अहलेहदीस बने बग़ैर अहले सुन्नत बनने की कोशिश की, वो बिद्अ़तों का शिकार होकर अहले बिद्अ़त हो गये। आज वो कहने को अहले सुन्नत हैं लेकिन वास्तव में वो अहले बिद्अ़त हैं, वो नित नई बिद्अ़त ईजाद करते हैं । असली अहले सुन्नत, अहलेहदीस ही हैं । वो अहलेहदीस होने की वजह से ही बिद्अ़तों से बचे हुए हैं। वो हदीस को देखकर ही सुन्नत पर अ़मल करते हैं, जो सुन्नत हदीस से साबित न हो वो उसे सुन्नत नहीं मानते बल्कि उसे बिद्अ़त समझते हैं और उससे परहेज़ करते हैं। इसलिये वो ही अहले हक़ हैं क्योंकि वो ही बिद्आ़त से बचे हुए हैं।

सवाल- आप का ये कहना अजीब है कि कुरआन व हदीस को सिर्फ़ अहलेहदीस ही मानते हैं और कोई नहीं मानता । कुरआन व हदीस को तो सब मानते हैं ऐसा कौन बदबख़्त है जो कुरआन व हदीस को न माने ?

जवाब- अगर सारे कुरआन व हदीस को मानते हों तो मुसलमानों में इतने फ़िरक़े क्यूँ हों ? क्या ये कुरआन व हदीस का कुसूर है जो मुसलमानों में इतने फ़िरक़े हैं?

सवाल- ये कुरआन व हदीस का कुसूर नहीं, कुसूर तो ये मुसलमानों ही का है जो इतने फ़िरकों में वंट गये ।

जवाब- मेरे भाई- फ़िरक़ों में लोग वंटते ही उस वक़्त हैं जब कुरआन व हदीस या अल्लाह व रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) को छोड़कर इमामों और पीरों, फ़क़ीरों को मानने लग जाते हैं अगर सब एक ही को मानें उसी के फैसले को अन्तिम समझें तो फ़िरक़ा बन ही नहीं सकता । आप कहते हैं और भी लोग अल्लाह व रसूल को मानते हैं सिर्फ अहलेहदीस ही तो नहीं मानते ? मैं कहता हूँ हलेहदीस के मानने में और औरों के मानने में ज़मीन-ओ-आसमान का फ़र्क़ है। अहलेहदीस का मानना ये है कि वो अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के साथ और किसी को नहीं मिलाते वो सिर्फ अल्लाह के रसूल को ही अपना इमाम मानते हैं किसी को अपना इमाम या मज़हवी पेशवा नहीं बनाते । वो अल्लाह के रसूल की ही पैरवी करते हैं और किसी की पैरवी नहीं करते और औरों का मानना ये है कि वो नाम तो अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) का बड़ी निष्ठा से लेते हैं लेकिन अ़मली तौर पर वो मानते अपने उन इमामों को ही हैं जिनकी वो तक़्लीद करते हैं । मुक़ल्लिदों का रसूल को मानना

ऐसा ही है जैसा मुशिरकीन का अल्लाह को मानना, जैसे मुशिरक सिर्फ़ अल्लाह का नाम लेते हैं और काम अपने बनाये हुए खुदाओं से ही लेते हैं। उम्मीद व ख़ौफ़ उनसे ही रखते हैं और मुश्किलकुशा, हाजत रवा उन ही को समझते हैं। इसी तरह मुक़ल्लदीन, नाम नवी का लेते लेकिन अ़मली तौर पर तक़्लीद अपने वनाये हुए इमामों की करते हैं । जैसे मुशिरकों को अल्लाह के मानने का कोई फ़ायदा नहीं क्योंकि वो अल्लाह को मानकर भी मुशिरक और काफ़िर ही ठहरते हैं, उसी तरह मुक़ल्लिदों को भी रसूल को मानने का कोई फायदा नहीं । वो रसूल को मानकर भी उनके पैरवी से वंचित (महरूम) ही रहते हैं क्योकि तक़्लीद अपने इमाम की करते हैं जैसे मुशिरक अपने बनाये हुए माबूदों को खुदा नहीं कहते लेकिन दिल में उनको स्थान खुदा ही का देते हैं। इसी तरह मुक़ल्लदीन अपने बनाये हुए इमामों को नबी और रसूल नहीं कहते लेकिन स्थान उनको नबी व रसूल का ही देते हैं। उनकी तक़्लीद करते हैं उनके नाम पर अपने मज़हब बनाते हैं। नबी का नाम वैसे बड़ी निष्ठा से लेते हैं लेकिन अ़मली जिन्दगी में वो मानते अपने इमामों को ही हैं । अपने इमाम की बात को सीधी करने के लिये वो कुरआन व हदीस को उल्टा कर देते हैं हर तरह की तावील और तहरीफ़।
(ग़लत अर्थ व परिवर्तन) कर जाते हैं । जितना उनको अपने इमाम के क़ौल (कथन) से लगाव होता हैं उतना उनको नबी की हदीस से लगाव नहीं होता । मुक़ल्लिद का मज़हब कुरआन व हदीस नहीं होता बल्कि उसका मज़हब अपने इमाम की फ़िक्ह होती है । इसलिये ये कहना व्यर्थ नहीं कि अल्लाह व रसूल या कुरआन व हदीस को मानने वाले सिर्फ़ अहलेहदीस ही हैं, इसलिये वो ही अहले हक़ हैं। जैसे अल्लाह का मानना मोअ़हिद (एकेश्वरवादी) का ही मोअ़तबर (विश्वास योग्य) है क्योंकि वो अल्लाह के साथ किसी और को नहीं मिलाता, उसी तरह रसूल का मानना अहले हदीस का मोअ़तबर है क्योंकि वो रसूल के साथ और किसी को अपना इमाम नहीं बनाता वो नवी ही की पैरवी करता और किसी की तक़्लीद नहीं करता ।
सवाल- क्या सभी ग़ैर अहलेहदीस फ़िरक़े पूर्ण रूप से असत्य (वातिल) हैं ?
जवाव- पूर्णरूप से बातिल (असत्य) तो कोई फ़िरक़ा भी नहीं होता थोड़ा-वहुत हक़ तो हर फ़िरक़ा में होता है। हक़ के सहारे के विना तो कोई फ़िरक़ा चल ही नहीं सकता । जैसे झूठ सच के विना नहीं चल सकता, उसको सच के सहारे की ज़रूरत होती है। उसी तरह वातिल भी हक़ के सहारे के विना नहीं चल

सकता, बातिल को हक़ के सहारे की ज़रूरत होती है । इसलिये हर बातिल से बातिल फ़िरक़े में कुछ न कुछ हक़ ज़रूर होता है ।

सवाल-जब हर फ़िरक़े में कुछ न कुछ हक़ ज़रूर होता है वल्कि कुछ में तो हक़ की मात्रा अधिक होती है जैसे - देवबन्दी । तो फिर आप सब ग़ैर अहलेहदीस फ़िरक़ों को वातिल क्यूँ कहते हैं?

जवाब- अरे भई, जैसे खोटा उसे ही नहीं कहते जिसमें सारा खोट हो । झूठा उसे ही नहीं कहते जो हर वात में झूठा हो वल्कि थोड़े से खोट और कभी-कभी के झूठ से भी उनको खोटा और झूठा ही कहते हैं, उसी तरह जव हक़ में वातिल मिल जाये चाहे थोड़ा हो या ज़्यादा तो उस मज़हब को वातिल ही कहते हैं। जव दो चीज़ें, श्रेष्ठ और निम्न मिलीं तो परिणाम निम्न ही के पलड़े में होता है । खरे में चाहे खोट थोड़ा ही मिलाया जाये पर मिश्रण खोटा ही होता है । हक़(सत्य) में चाहे बातिल (असत्य) थोड़ा ही मिले, मिश्रण बातिल ही होता है । हक़ तो ख़ालिस ही को कहते हैं बातिल की मिलावट थोड़ी सी हो जाये, वो बातिल हो जाता है । इस्लाम 'सेराते मुस्तक़ीम' अर्थात् एक सीधी लकीर हैं । सीधी लकीर में अगर कहीं भी टेढ़ आ जाये तो वो टेढ़ा हो जाता है । मुस्तक़ीम कहलाने के लिए पूरी लकीर का शुरू से आखिर तक सीधा होना ज़रूरी है । देवबन्दियों में हक़ की मात्रा कितनी भी हो जव उसमें वातिल आ गया चाहे थोड़ा ही हो, वो वातिल हो गया । हम उसको हक़ नहीं कह सकते, हक़ खालिस ही को कह सकते हैं जैसा कि अहलेहदीस हैं जो सिर्फ़ कुरआन व हदीस और सिवाय अल्लाह और उसके रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के किसी को दीन में दाख़िल नहीं करते।

सवाल- क्या देववन्दी हक़ के क़रीब नहीं ?

जवाव- हक़ के क़रीव होने से कुछ नहीं होता जो होता हैं ख़ालिस हक़ होने से होता है । हक़ के बहुत करीव तो अवू तालिव भी था, हंक़ के बहुत क़रीब तो हरकुल, क़ैसर, रोम भी था लेकिन उनको क्या फ़ायदा ?

सवाल- देववन्दियों में क्या गुमराही है ? जो आप उनको भी बातिल फ़िरक़ों में शुमार करते हैं ?

जवाव- देवबन्दी, अहलेहदीस से एक अलग फ़िरक़ा है या नहीं ?

सवाल- अलग फ़िरक़ा तो है ।

जवाव- जव अहलेहदीस ही हक़ जैसा कि हम ऊपर सावित कर चुके हैं तो उससे अलग होना ही गुमराही है । हक़ से अलग होने की सज़ा दोज़ख़ है- " मन शज़्ज़

शुज़्ज़ फ़िन्नार " । जैसे जन्नत से अलग होना दोज़ख़ है उसी तरह हक़ से अलग होना गुमराही है, जो हक़ से अलग हुआ वो दोज़ख़ के गढ़े में गिरा।
सवाल- अहलेहदीस भी तो एक अलग फ़िरक़ा है?
जवाब- मेरे भाई ! अहलेहदीस कोई अलग फ़िरक़ा नहीं है। अलग वो होता है जो हक़ से अलग हो, अहलेहदीस स्वयं हक़ है । अलग वो होता है जो अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के बाद किसी और को अपना दीनी इमाम बनाकर उसकी तक़्लीद करे। अहलेहदीस के इमाम तो अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) हैं, अहलेहदीस का इमाम और कोई है ही नहीं। वो अल्लाह के बनाये हुए इमाम, मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के साथ हैं इसलिये अहलेहदीस कोई अलग फ़िरक़ा नहीं । अलग वो होता है जो अहलेहदीस के साथ न हो बल्कि अहलेहदीस से अलग हो ।
सवाल- आप तक़्लीद (अन्धभक्ति) की बार-बार निंदा करते हैं, आप ये तो बतायें तक़्लीद किसे कहते हैं?
जवाब- अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के बाद किसी को इमाम बनाकर उसकी नाजायज़ और ग़लत बात को भी सही समझना और उसकी बेजा हिमायत करना । अपने मज़हब की हिमायत (पक्ष) में जायज़ के मुक़ाबले में नाजायज़ को तरजीह (महत्व) देना ये सब तक़्लीद की सूरतें हैं ।
सवाल- क्या नबी की तक़्लीद नहीं होती ?
जवाब- नबी की तक़्लीद नहीं होती, नबी की तो इताअ़त और इत्तिबाअ़ (पैरवी) होती है । नबी की बात तो आँखें बन्द करके लेना भी तक़्लीद नहीं । तक़्लीद उस आदमी की बात मानने को कहते हैं जिसकी बात मानने का अल्लाह ने हुक्म नहीं दिया यानि जिसकी बात शरअ़ी हुज्जत न हो उसकी बात को बिना दलील मानना, तक़्लीद है । नबी तो नबी होता है उसकी इताअ़त व इत्तिबाअ़ को तो अल्लाह ने फ़र्ज़ किया है इसलिये नबी की तक़्लीद नहीं होती, तक़्लीद ख़ुदसाख़्ता यानि अपने बनाये हुये इमामों की होती है।
आज अगर देवबन्दियों और बरेलवियों से कोई पूछे कि तुम हनफ़ी क्यूँ हो ? तुम इमाम अबू हनीफ़ा की तक़्लीद क्यूँ करते हो, तुम्हें किसने कहा कि हनफ़ी बनो ? क्या अल्लाह ने कहा है या उसके रसूल ने ? तो हनफ़ी इसका जवाब नहीं दे सकते क्योंकि न अल्लाह ने कहा है कि तुम इमाम अबू हनीफ़ा की तक़्लीद करो न उसके रसूल(सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने और न ख़ुद इमाम अबू हनीफ़ा ने। हनफ़ी

अपनी मर्ज़ी से ही तक़लीद पर लगे हुए हैं । " और अपनी ख़्वाहिशात की पैरवी करते हैं हालांकि उनके पास उनके रब की तरफ़ से हिदायत आ चुकी है ।"(नजम-23)

सवाल- अगर कोई आप से पूछे कि आप अहलेहदीस क्यूँ हैं ? तो आपके पास इसका जवाब क्या है?

जवाब- हमारे पास तो इसका बहुत ही माकूल और ठोस जवाब है, वो ये कि अल्लाह ने अपने नबी की पैरवी का हुक्म दिया है और नबी की पैरवी हदीसों के मुताबिक नबी की सुन्नत पर अ़मल करने से ही हो सकती है, इसलिये हम अहले सुन्नत भी हैं और अहलेहदीस भी । अहले सुन्नत इसलिये कि हम नबी की सुन्नत के पाबन्द हैं किसी पीर, फ़क़ीर या इमाम, वली की हम तक़लीद नहीं करते और अहलेहदीस इसलिये की हदीस जो नबी (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की ज़िन्दगी का रिकार्ड है, हम उसकी हिफ़ाज़त करते हैं और उस रिकार्ड के मुताबिक़ नबी की सुन्नतों पर अ़मल करते हैं अगर हदीसें न हों तो दीन-ए-इस्लाम सुरक्षित (महफ़ूज़) न रहे । नबी की किसी सुन्नत का पता न लगे, अगर सुन्नत का पता न लगे तो नबी की पैरवी न हो अगर नबी की पैरवी न हो तो हम मुसलमान न हो सकें, इसलिये मुसलमान होने के लिये अहलेहदीस और अहले सुन्नत होना ज़रूरी है अगर हदीस, नबी (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) के सिवा किसी और की होती तो फिर हम पर एतराज़ था कि तुम अहलेहदीस क्यूँ हो ? जब हदीस भी नबी (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की है और पैरवी भी नबी (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की ही चाहते हैं तो फिर अहलेहदीस, अहले सुन्नत होना तो बिल्कुल अल्लाह के हुक्म के मुताबिक़ है । कुरआन बार-बार नबी की पैरवी का हुक्म देता है । आज इस्लाम सही अहलेहदीस होने का ही नाम है जिस तरह अहले सुन्नत और अहलेहदीस लाज़िम व मलज़ूम हैं उसी तरह अहलेहदीस और इस्लाम लाज़िम व मलज़ूम (एक दूसरे से सम्बन्धित) हैं । आज इस्लाम ऐन मज़हब अहलेहदीस है और मज़हब अहलेहदीस ऐन इस्लाम है, ये दोनों एक दूसरे के पूरक व समानार्थी हैं । कोई ग़ैर अहलेहदीस फ़िरक़ा ऐसा नहीं जिसको ये गौरव प्राप्त हो । क्या आप देवबन्दियत या बरेलवियत को ऐन इस्लाम या इस्लाम का पूरक कह सकते हैं?

सवाल- क्या ये फ़िरक़े इस्लाम नहीं ?

जवाब- अगर ये फ़िरक़े ऐन इस्लाम हों तो सहाबा जो न हनफ़ी थे न

देवबन्दी-बरेलवी, कैसे मुसलमान हो सकते हैं ? फिर शाफ़अी,मालिकी, हंबली भी मुसलमान नहीं हो सकते क्योंकि वो भी हनफ़ी नहीं । हालांकि हनफ़ी उनको भी मुसलमान कहते हैं । क्या ये अजीब बात नहीं कि हनफ़ी, हनफ़ियत को भी इस्लाम कहते हैं और अपने मुख़ालिफ़ (विरोधी) मज़हब को भी इस्लाम कहते हैं । हालांकि दो विरोधी और अलग मज़हब इस्लाम नहीं हो सकते, इसका साफ़ मतलब ये है कि हनफ़ियों को भी ये स्वीकार है कि हनफ़ियत ऐन इस्लाम नहीं । इसी तरह ग़ैर अहलेहदीस कोई फ़िरक़ा भी हो ऐन, इस्लाम या इस्लाम का पूरक नहीं क्योंकि हर फ़िरक़े का इस्लाम नाक़िस (अपूर्ण) है ।

सवाल- नाक़िस (अपूर्ण) किस ऐतबार से है ?

जवाब- हर फ़िरक़ा नबी की पैरवी के बजाय अपने इमाम की तक़्लीद करता है जिससे नबी की पैरवी नाक़िस (अपूर्ण) हो जाती है और नबी की पैरवी ही असल इस्लाम है । जहां बिद्‌अ़त आई वहां सुन्नत गई और जहां सुन्नत गई वहां इस्लाम नाक़िस हुआ।

सवाल- फिर तो ये सब फ़िरक़े काफ़िर हुये ?

जवाब- खुलकर काफ़िर तब हों जब ये नबी (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की पैरवी का ज़बान से इन्कार करें, इन्कार ये तो करते नहीं । न ये खुलकर इन्कार करते हैं न पूरी तरह पैरवी करते हैं, नबी की पैरवी उस सीमा तक करते हैं जिस सीमा तक उनके इमाम के अनुसार रहे । जहां इमाम से विरोध (मुख़ालिफ़त) हो वहां वो हीले (बहाने) से काम लेते हैं और अपने इमाम को तरजीह (श्रेष्ठता) देते हैं।

मुक़ल्लिदों का हाल बिल्कुल मुश्रिकों जैसा है जैसे मुश्रिक ग़ैरूल्लाह की इबादत (उपासना) को अल्लाह की इबादत कहते हैं। उसी तरह मुक़ल्लिद अपने इमाम की तक़्लीद को नबी की इत्तिबाअ़ (पैरवी) कहते हैं । वो कहते हैं क्या हमारे इमाम को इस हदीस का ज्ञान न था ? जब हमारे इमाम ने इस हदीस के ख़िलाफ़ फ़त्वा दिया है तो ज़रूर ये हदीस या मंसूख़ (रद्‌द) होगी या इसमें कोई और नुक़्स (कमी) होगा । हमारे इमाम से ज्यादा कोई विद्वान (आ़लिम) नहीं, वो इस हदीस को हमसे ज़्यादा बेहतर जानते थे हम तो उनके मुक़ल्लिद हैं, उनका फ़त्वा या अ़मल ही सही है ।

सवाल- जब आप उनको काफ़िर भी नहीं कहते और उनके इस्लाम को नाक़िस (अपूर्ण) भी बताते हैं तो उनके बारे में आप क्या कहते हैं वो काफ़िर हैं या

मुसलमान ?
जवाब- भई ! ये निफ़ाक़ (कपट) है जो बहुत ख़तरनाक है। हम उनको काफ़िर नहीं कह सकते, इतना ज़रूर कहेंगे कि उनके पीछे नमाज़ जायज़ नहीं । हमें अपने आप को उनसे बहुत बचाना चाहिये, ये सब ऐसे फ़िरक़े हैं जिन्होंने दीन के टुकड़े किये हैं । **"बेशक वो लोग जिन्होंने अपने दीन में इख़्तिलाफ़ (विरोध) किये और फ़िरक़ा हो गये।" (अनआ़म-159)** की आयत इन फ़िरक़ों पर और **"आप को उनसे कुछ सरोकार नहीं, उनका मामला अल्लाह के हवाले है" (अनआ़म-159)** अहलेहदीस पर पूरी तरह फिट आती है । अहलेहदीस ही एक ऐसी जमाअ़त है जो अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) से अलग नहीं हुई, उसने अपना कोई इमाम नहीं बनाया । वो नबी की हदीस पर चलते हैं और अपनी निस्बत (सम्बन्ध) नबी की तरफ़ ही करते हैं, इसलिये वो इन तमाम फ़िरक़ों से अलग हैं । बाकी तमाम फ़िरक़े अपनी निस्बत अपने इमामों की तरफ़ करते हैं यही फ़िरक़ासाज़ी और फ़िरक़ापरस्ती है, जो बहुत बड़ी गुमराही है और मुश्रिकों की विशेषता है । इसी लिये अल्लाह तआ़ला ने फ़िरक़ापरस्ती से शिर्क की तरह मना फ़रमाया है, चुनांचे फ़रमाया- **"और मत बनो मुश्रिकों में से जिन लोगों ने अपने दीन को टुकड़े-टुकड़े कर दिया और फ़िरक़े-फ़िरक़े बन गये ।"(रोम-31,32)**
फ़िरक़ापरस्ती और शिर्क लाज़िम व मलज़ूम (एक दूसरे से सम्बन्धित) हैं ।
सवाल-ये तलाज़ुम (पारस्परिक सम्बन्ध) आपने कहाँ से निकाल लिया ?
जवाब- आयत में **'मिनल्लज़ी न फ़र्रकू दी नहुम मिनल मुश्रेकीन'** से सम्पूर्ण विरोध है और सम्पूर्ण विरोध, करने वाले का हुबहू होता है और हुबहू होने में परस्पर सम्बन्ध होना ज़रूरी है अर्थात् फ़िरक़ापरस्ती शिर्क (बहुदेववाद) और फ़िरक़ापरस्त मुश्रिक (बहुदेववादी) होते हैं और मुश्रिक ज़रूर फ़िरक़ापरस्त होते हैं और फ़िरक़ा बनता भी तक़्लीद से है और तक़्लीद स्वयं ही शिर्क है बल्कि शिर्क की भी माँ है, इसीलिये मुक़ल्लिद कभी मोअ़हिद (एकेश्वरवादी) नहीं हो सकता।
सवाल- कुछ अहलेहदीस तो देवबन्दियों को भी मोअ़हिद(एकेश्वरवादी) कहते हैं हालांकि देवबन्दी पक्के मुक़ल्लिद (अन्धभक्त) हैं।
जवाब- वो **ख़ानदानी अहलेहदीस** हैं जो ऐसा कहते हैं । वो असली अहलेहदीस नहीं, उन्हें ये पता नहीं कि अहलेहदीस कौन होता है और मुक़ल्लिद कौन होता है। वो सिर्फ़ इसलिये अहलेहदीस हैं कि वो अहलेहदीसों की औलाद हैं । उन्होंने अपने

बड़ों को रफ़ाअ़ यदैन करते देखा वो रफ़ाअ़ यदैन कर लेते हैं, वो सिर्फ़ रफ़ाअ़ यदैन के अहलेहदीस हैं । वो अहलेहदीस की हक़ीक़त से नाआशना (अनभिज्ञ) हैं अगर वो खुद अहलेहदीस हुये हों, उन्होंने कष्ट उठाये हों तो उन्हें अहलेहदीसी का पता हो कि ये क्या नेअ़मत (बख़्शिश) है और देवबन्दियत क्या अ़ज़ाब है। अल्लाह इससे हर मुसलमान को बचाये। (आमीन)

मेरे भाई-मुक़ल्लिद कभी मोअ़हिद हो ही नहीं सकता चाहे वो देवबन्दी हो या कोई और । मोअ़हिद होने के लिये अल्लाह को एक मानना ही काफ़ी नहीं, तीन चीज़ों का इन्कार भी ज़रूरी है जिनमें से एक तक़्लीद है।

सवाल- वो तीन चीज़ें क्या हैं ?

जवाब- (1) ग़ैरूल्लाह (अल्लाह को छोड़कर दूसरों) की इबादत।
(2) किसी को अल्लाह का शरीक समझना चाहे ज़ात में या सिफ़ात में या अफ़आ़ल में ।
(3) तक़्लीद ।

जब तक इन तीनों का इन्कार न हो तौहीद सही नहीं होती ।

सवाल- तौहीद तो अल्लाह को एक मानने को कहते हैं आपने ये 3 शर्तें कहाँ से निकाल लीं ?

जवाब- अगर सिर्फ़ अल्लाह को एक मानना तौहीद हो तो कलमा तौहीद **"अल्लाहु वाहिद"** कलमा तौहीद **"ला इलाह इल्लल्लाह"** न होता । आप जो कहते हैं तौहीद अल्लाह को एक मानने को कहते हैं तो सारे मुश्रिक अल्लाह को एक मानते हैं फिर वो मुश्रिक क्यूँ हैं ? दो अल्लाह मानने वाला मुश्रिक तो आज तक कोई पैदा ही नहीं हुआ । जितने भी मुश्रिक हुये दो अल्लाह किसी ने नहीं बनाये, सब एक अल्लाह के ही मानने वाले हैं । मुश्रिकाने मक्का जो रजिस्टर्ड मुश्रिक हैं वो भी अल्लाह को एक मानते थे । हज के मौक़ा पर उनका तलबिया (हज में लब्बैक कहना) ही ये था- **"ला शरी क ल क इल्ला शरीकन तम लिकोहू व मा मलक"** ।

कुरआन उनके अ़क़ीदे को बयान करता है- **"वो कहते हैं कि हम उनकी इबादत सिर्फ़ इसलिये करते हैं कि वो हमें अल्लाह के क़रीबतर (समीप) कर देंगे ।"** (ज़ुमर-3) जिससे साबित होता है कि वो अल्लाह को एक मानते थे लेकिन माबूद और बनाते थे इसीलिये उनको **"ला इलाह इल्लल्लाह"** से तकलीफ़ होती थी क्योंकि इससे उनके **'इलाह'** का इन्कार होता था । कुरआन बयान करता

है-"**उनसे जब कहा जाता कि अल्लाह के सिवा कोई माबूद नहीं तो वो तकब्बुर (घमण्ड) किया करते हैं ।**" (साफ़्फ़ात-35) वो "**ला इलाह**" से अकड़ते थे, "**अल्लाह वाहिद**" से उन्हें कोई तकलीफ़ न थी । इसीलिये "**ला इलाह इल्लल्लाह**" का कलमा मुश्रिकों पर बहुत भारी है, उन्हें ये गवारा नहीं । जैसा कि क़ुरआन मजीद में है - "**वो पैग़ाम जिसकी तरफ़ आप उनको बुलाते हैं मुश्रिकों पर बड़ा शाक़ (मुश्किल) गुज़रता है ।**"(शूरा-13) "**अल्लाह वाहिद**" मुश्रिकों पर भारी नहीं ।

सवाल - अगर मुक़ल्लिद मुश्रिक हों तो मुक़ल्लिदों पर भी ये कलमा भारी हो हालांकि देववन्दी व वरेलवी तो इस कलमा का विर्द (जाप) करते हैं ।

जवाव- मुक़ल्लिद वे इल्म भी होता है और वे समझ भी । वो तक़्लीद करता ही इसलिये है कि वो वे इल्म और वे समझ है अगर उसे इल्म और समझ हो तो वो तक़्लीद क्यों करे ? तक़्लीद करने वाले असल में इस कलमा तौहीद का मतलब नहीं समझते न वो इस कलमा के अन्दर वर्णित तौहीद की सीमाओं (हुदूद) को जानते हैं अगर मुक़ल्लिदीन को कलमा तौहीद की हक़ीक़त का ज्ञान (इल्म) हो जाये तो वो कलमा न पढ़ें या तक़्लीद को छोड़ दें । हक़ीक़त ये है कि जब बन्दा किसी की तक़्लीद करता है तो वो अपने मुक़ल्लद यानि इमाम को गोया नबी वनाता है और नबी की वात चूंकि ऐन अल्लाह की वात होती है तो गोया वो अपने इमाम को अल्लाह का दर्जा (स्थान) देता है, जो उसकी बात को दीन समझता है । हालांकि दीन तो वो होता है जो अल्लाह कहे चाहे नवी की ज़बान से हो । इमाम को ये दर्जा देना गोया उसको अल्लाह का शरीक वनाना है । जिनकी बातों को लोग दीन समझकर अपना लेते हैं, अल्लाह तआला ने उनको अपना शरीक कहा है । क़ुरआन मजीद में है - "**और इसी तरह बहुत से मुश्रिकों की नज़रों में उनके माबूदों (उपास्य) ने अपनी औलाद को क़त्ल करना खुशनुमा (सुन्दर) कर दिखाया है ताकि उन्हें हलाकत (विनाश) में डाल दें और उनके दीन को उन पर संदिग्ध कर दें ।**"(अनआम-137) इस आयत में अल्लाह तआला ने औलाद के क़त्ल का मसअला गढ़ने वालों को 'शरीक' कहा है । अज्ञानता में लोग नज़र मानते थे अगर मेरे इतने लड़के हुये तो मैं एक अपने माबूद के नाम पर ज़ब्ह करूँगा । चुनांचे हुज़ूर (सल्लल्लाहु अलैहि वसल्लम) के दादा अब्दुल मुत्तलिव ने अपने वेटे अब्दुल्लाह के ज़ब्ह करने की नज़र मानी थी । अल्लाह तआला ने फ़रमाया जो ऐसे मसअले वताते हैं वो मेरे शरीक वनते हैं । जो भी दीन में कोई मसअला गढ़े

और उसे चालू करे वो अल्लाह का शरीक है । कुरआन में है –**"क्या उनके ऐसे शरीक भी हैं कि जिन्होंने उनके लिये दीन का वो तरीक़ा निकाला है जिसका अल्लाह ने हुक्म नहीं दिया ।"** (शूरा-21)
जव किसी को इमाम बनाकर उससे मसअ्ले लेना, उसको अल्लाह का शरीक वनाना है तो तक़्लीद तो खुद व खुद शिर्क हो गयी और मुक़ल्लिद मुश्रिक हो गया। इसीलिये अल्लाह ने आयते दावत में जव अहले किताव को कलमा तौहीद की दावत दी तो तक़्लीद की नफ़ी (इन्कार) की शक (मुश्किल) उसमें रख दी और वता दिया कि "ला इलाह इल्लल्लाह" उसका सही है जो तक़्लीद न करे ।
(नोट :- इस विषय को और विस्तृत (तफ़्सील) रूप से जानने-समझने के लिये हमारा हिन्दी में मुहम्मदी इश्तिहार "इमाम चार नहीं सिर्फ़ एक-हज़रत मुहम्मद (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम)" अवश्य पढ़ें । (अनुवादक)
सवाल- कुरआन में ऐसी आयत कहाँ है ?
जवाब- सूरः आल-इमरान, आयत-64, में है - **"ऐ अहले किताब! आओ हम तुम्हें कलमा तौहीद ला इलाह इल्लल्लाह की दावत देते हैं तुम भी इसे मानते हो और हम भी इसे मानते हैं"** और ये तमाम शरीअ़तों में एक रहा है जिसका निचोड़ इन 3 दफ़ात पर आधारित है ।
(1) " हम अल्लाह के सिवा किसी की इबादत न करें ।
(2) हम किसी को अ़क़ीदतन भी अल्लाह का शरीक न बनायें ।
(3) हम एक दूसरे को रब न बनायें ।"
मेरे भाई! इस रब बनाने में तक़्लीद भी आती है ।
सवाल- रब बनाना तक़्लीद कैसे है ?
जवाब- यही सवाल हज़रत अ़दी (रज़ि0) बिन हातिम ने किया था जब वो मुसलमान हुये थे, उन्होंने कहा था -या रसूलुल्लाह !अल्लाह तो कुरआन में कहता है - **"अहले किताब ने अपने ओ़लमा और सूफ़िया को रब बना रखा था।"(तौबा-31)** हालांकि हमने अपने ओ़लमा और सूफ़ियों को रब नहीं बनाया था तो रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने फ़रमाया- "क्या ये बात न थी कि तुम अपने आ़लिमों और सूफ़ियों की बातों को ही दीन समझते थे तुमने उनको 'शरीअ़त बनाने वाले' का दर्जा दे रखा था । तुम उनके हलाल किये हुये को हलाल और हराम किये हुये को हराम समझते थे " तो हज़रत अ़दी (रज़ि0) बिन हातिम ने कहा कि ये बात तो थी । तो आप (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने

फ़रमाया- "यही तो रब बनाना है।" मेरे भाई ! ये दर्जा (स्थान) तो किसी नबी को भी हासिल नहीं । नबी भी अल्लाह का हलाल व हराम का ही मानने वाला होता है।" चुनांचे रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने एक बार एक चीज़ को अपने ऊपर हराम कर लिया था तो अल्लाह ने फौरन कुरआन में आयत उतार दी- **"ऐ नबी ! तू उस चीज़ को अपने ऊपर हराम क्यूँ करता है जिसको अल्लाह ने तेरे लिये हलाल किया है।"(तहरीम-1)** किसी चीज़ को हलाल या हराम या जायज़-नाजायज़ कहना ये सिर्फ़ अल्लाह ही का काम है, वो ही हर चीज़ का मसरफ़ बताये । किसी को ये दर्जा देना गोया उसको अल्लाह का शरीक बनाना है और ये शिर्क है । मुक़ल्लिद अपने इमाम को यही दर्जा देता है वो अपने इमाम के बात को ही दीन समझता है ।

सवाल- तक़्लीद तो फिर बड़ी खतरनाक चीज़ है, इससे तो फिर इस्लाम में भी ऐब पैदा होता होगा ?

जवाब- आप ऐब की बात करते हैं । मैं कहता हूँ कि जब तौहीद ही ठीक न रही तो इस्लाम कहाँ रहा ? इसलिये तो आयत दावत " कुल या अहलल किताबि...." के आखिर में अल्लाह ने ये जुमला रखा है । "फ़ इन तवल्लव फ़ कूलुश हदु बि अन्ना मुस्लिमून " कि अगर वो "ला इलाह इल्लल्लाह" की उस ताबीर (व्याख्या) को न मानें तो फिर तुम उनसे कहो कि तुम गवाह रहो हम इस कलमा को मानते हैं तुम नहीं मानते हो न मानो । मुस्लिम है ही वो जो "ला इलाह इल्लल्लाह" के वो अर्थ माने जो कुरआन ने इस आयत में बयान किया है वरना वो मुस्लिम ही नहीं, फौजदारी करके वो मुस्लिम बना रहे तो उसकी मर्ज़ी है । इस आयत से स्पष्ट है कि जो तक़्लीद नहीं छोड़ता वो सही मुसलमान नहीं रहता ।

सवाल- इसको जरा और स्पष्ट करें कि मुक़ल्लिद मुसलमान कैसे नहीं रहता ?

जवाब- जब अल्लाह ने आयत दावत में कलमा तौहीद की दावत दी तो बता दिया कि "ला इलाह इल्लल्लाह" का मतलब ये है कि हम अल्लाह के अलावा किसी की इबादत न करें, हम किसी को अल्लाह का साझीदार (शरीक) न बनायें, हम किसी को रब न बनायें । जिसमें हुज़ूर (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की व्याख्या (तफ़्सीर) के अनुसार तक़्लीद (अन्धभक्ति) भी शामिल है, फिर फ़रमाया अगर वो इससे इन्कार करें तो तुम कह दो कि अच्छा फिर हम इस कलमा को मानते हैं तुम नहीं मानते हो न मानो । तुम फिर कलमा तौहीद से भी अलग हो । इससे साबित हुआ कि जो अल्लाह के सिवा किसी की इबादत करे चाहे इबादत बदनी

(शारीरिक) हो या माली (आर्थिक), क़ौली (कथनात्मक) हो या फ़ेअ़ली (कार्मिक) उसकी तौहीद सही नहीं। जो किसी को अल्लाह का शरीक समझे, ज़ात में शरीक समझे या सिफ़ात व अफ़आ़ल (ताक़त व क़ुदरत) में, उसकी भी तौहीद सही नहीं। इस तरह जो कोई किसी को रब बनाये, चाहे वो तक़्लीद की सूरत में या किसी और सूरत में उसकी भी तौहीद सही नहीं। जब किसी की तौहीद सही न हो तो वो सही मुसलमान कैसे हो सकता है ?

सवाल - फिर तो देवबन्दियों का मामला भी खतरनाक है, बरेलवियों का तो कहना ही क्या। हम तो ये समझते थे कि देवबन्दी कोई अलग मज़हब नहीं, ये सिर्फ़ मदरसा देवबन्द की तरफ एक निस्बत है जैसे अ़लीगढ़ के पढ़े हुए को 'अ़लीग' कहते हैं।

जवाब- अल्लाह के बन्दे ! देवबन्दी एक मुस्तक़िल मज़हब है जो बरेलवियों के मुकाबले में है। ये हनफ़ी सिलसिले की एक शाख़ है जिसके ख़ास अ़क़ीदे हैं और उनके ख़ास अकाबिर (बड़े) हैं, जिनको देवबन्दी मानते हैं। देवबन्दियों के अ़क़ीदे अगर देखने हैं तो रिसाला "अल महन्द फ़ी अ़क़ाएद देवबन्द" पढ़ें। ये मौ0 खलील अहमद सहारनपुरी की तालीफ़ (संकलन) है जो तमाम ओ़लमा-ए-देवबन्द की मुसद्दिक़ा (संस्तुति) है। इस तरह "अश्शेहाबुस्साक़िब" प्रस्तुति मौ0 हुसैन अहमद मदनी और "शमाएमे इम्दादिया" मलफूज़ात हाजी इम्दादुल्लाह महाजिर मक्की और "आब-ए- हयात" लेखक मौ0 क़ासिम नानवतवी वग़ैरह ऐसी किताबें हैं जिनसे पता चलता है कि देवबन्दी एक ख़ास फ़िरक़ा है, जो इमाम अबू हनीफ़ा का मुक़ल्लिद है। जिसके बहुत से अ़क़ीदे इस्लाम के ख़िलाफ़ हैं। उनके अ़क़ीदे में एकान्तवास जहमियत और एरजाऽ का बहुत गहरा रंग है। देवबन्दी अल्लाह के अ़र्श पर होने के क़ाएल नहीं। देवबन्दी क़ुरआन को अल्लाह का कलाम भी नहीं मानते, उनके नज़दीक ये क़ुरआन कलामुल्लाह नहीं बल्कि अल्लाह के कलाम पर दलील है। वो कलामे नफ़्सी के क़ाएल हैं। देवबन्दी, बरेलवियों की तरह हयातुन्नबी (नबी के ज़िन्दा होने) के भी क़ाएल हैं। वो हयात-ए-बर्ज़ख़ी के बजाये हयात-ए-दुनियवी मानते हैं। वो ईमान, क़त्तई तौर पर मान लेने को कहते हैं, इसलिये उनके नज़दीक क्या उम्मती-क्या नबी सबका ईमान बराबर है। उनके नज़दीक ईमान घटता- बढ़ता भी नहीं है। देवबन्दी कहते हैं आ़माल, ईमान में दाख़िल नहीं इसलिये वो नमाज़ को ईमान नहीं मानते। इसीलिये बे नमाज़ को काफ़िर नहीं कहते हालांकि अल्लाह ने नमाज़ को ईमान कहा है- **"और अल्लाह**

तआ़ला ऐसा नहीं है जो तुम्हारे ईमान को ज़ाया (बरबाद) कर दे।"(बक़रः-143) जिससे बे नमाज़ काफ़िर ठहरता है । इसके अलावा वहदतुल वुजूद (कण-कण में अल्लाह) का कुफ़्रिया अक़ीदा जैसा बरेलवियों में पाया जाता है वैसा कसरत (अधिक संख्या में) से देवबन्दियों में भी पाया जाता है । हाजी इम्दादुल्लाह मक्की जो वुजूदी मज़हब के थे तमाम देवबन्द के 'बड़ों' के पीर-ओ-मुर्शिद हैं। सब देवबन्दी ओलमा अपने आपको उनका मुरीद समझते हैं बल्कि उनके मुरीद कहलाने पर फ़ख्र (गर्व) महसूस करते हैं । उनके चन्द शे'र मुलाहिज़ा हो, वो अपने पीर-ओ-मुर्शिद शाह नूर मुहम्मद को मुख़ातिब (सम्बोधित) करके कहते हैं-

आसरा दुनिया में है अज़ बस तुम्हारी ज़ात का
तुम सिवा औरों से हर्गिज़ कुछ नहीं है इल्तिजा
बल्कि दिन महेशर के होगा जिस वक़्त क़ाज़ी खुदा
आपका दामन पकड़कर मैं कहूँगा बर मला
ऐ शहे नूर मुहम्मद वक़्त है इम्दाद का

देवबन्दी तवस्सुल बिल औलिया (औलिया का वसीला) के भी क़ाएल हैं । उनके 'बड़े' अपने बुजुर्गों के शिजरे लिखकर रखे हैं जो उनके मुरीद व चाहने वालों में पढ़े और पढ़ाये जाते हैं और ये सब शिर्किया सिलसिला है- अल्लाह की पनाह ।

सवाल- हम तो समझते थे कि देवबन्दी और अहलेहदीस में कोई खास फ़र्क़ नहीं है, देवबन्दी अहलेहदीसों के बहुत क़रीब हैं ।

जवाब- ये आपका ही नज़रिया नहीं, बहुत से बेख़बर अहलेहदीसों के नज़रियात (दृष्टिकोण) ऐसे ही हैं बल्कि इसी नज़रियात के तहत वो देवबन्दियों के पीछे नमाज़ पढ़ लेते हैं । उनको ये ग़लतफ़हमी बरेलवियों की वजह से हुआ । वो जब बरेलवियों के अ़क़ाएद और उनके बिद्आ़त को देखते हैं तो उन्हें देवबन्दी बहुत क़रीब नज़र आते हैं, वो समझते हैं कि देवबन्दी और अहलेहदीस में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं है हालांकि अहलेहदीस और देवबन्दी में बहुत फ़र्क़ है । जिन अहलेहदीसों को भी देवबन्दियों से पाला पड़ा है या जो अहलेहदीस सूझ-बूझ रखने वाले हैं वो खूब जानते हैं कि देवबन्दी दिल से अहलेहदीस के कितने मुख़ालिफ़ (विरोधी) हैं, उन्हें मालूम है कि देवबन्दियों का बातिन (अन्तर्मन) उसके ज़ाहिर से (बाह्य) कहीं ज़्यादा ख़तरनाक है। अहलेहदीस से उनका मामला बिल्कुल- **"बुग्ज़ जो उनके सीनों में छिपा है वो उससे कहीं ज़्यादा है।"(आल इमरान-118)** वाला है । बरेलवी अगर अहलेहदीस का खुला हुआ दुश्मन है तो

देवबन्दी छिपा हुआ लेकिन दुश्मन दोनों हैं। देवबन्दी, बरेलवियों के बहुत क़रीब हैं और अहलेहदीस से बहुत दूर हैं। देवबन्दी और बरेलवी एक दूसरे के सगे हैं । दोनों असलन व नसलन एक हैं । दोनों हनफ़ी हैं और तक़्लीद की पैदावार हैं । दोनों पक्के मुक़ल्लिद और हनफ़ी फ़िक़्ह के पावन्द हैं । अहलेहदीस को दोनों 'ग़ैर मुक़ल्लिद कहते हैं और ग़ैर मुक़ल्लिद उनके नज़दीक अत्यन्त घृणा और नफ़रत का नाम है ।

सवाल- अगर देवबन्दी, बरेलवी भाई-भाई हैं तो फिर उनमें इतनी लड़ाई क्यों रहती है ?

जवाब- लड़ाई तो भाईयों में रहती ही है । भाई की भाई से बनी रहे तो मुहब्बत भी बेमिसाल होती है और अगर बिगाड़ हो जाये तो दुश्मनी भी बेमिसाल होती है । भाई से दुश्मनी निकालने के लिये भाई के ग़ैरों से भी मिल जाते हैं लेकिन ये हक़ीक़त अपनी जगह हक़ीक़त ही रहती है कि भाई-भाई और ग़ैर-ग़ैर । ग़ैर से दोस्ती व सहयोग तो हो सकता है, ग़ैर भाई कभी नहीं बन सकता । बरेलवी और देवबन्दी सगे भाई हैं, दोनों हनफ़ियत की औलाद हैं । उनके मुसल्लमात एक, उनके इमाम एक, उनकी शरीअत एक, उनकी तरीक़त एक, उनका तसव्वुफ़ एक, उनके मसालिक व मशारिब (मस्लक व सम्प्रदाय) एक, उनकी फ़िक़्ह (धर्म शास्त्र) एक, उनका इल्मे कलाम एक । उनकी लड़ाई ज़्यादातर एक-दूसरे के 'करीबी बड़ों' को बुरा कहने की वजह से है । अहलेहदीसों को दोनों ही ग़ैर समझते हैं और 'ग़ैर मुक़ल्लिद' कहते हैं । एक भरोसेमन्द बताने वाले ने बताया कि मौ0 ख़ैर जालन्धरी जो देवबन्दी हनफ़ी थे और मदरसा खैरूल मदारिस मुल्तान के बानी (संस्थापक) थे और देवबन्द के बड़ों में गिने जाते थे । एक बार सरक़पूर आये किसी ने उनसे पूछा हज़रत ! अगर एक तरफ़ बरेलवियों की जमाअत हो रही हो और दूसरी तरफ़ अहलेहदीस की तो एक देवबन्दी किधर जाये? अहलेहंदीस के पीछे नमाज़ पढ़े या बरेलवियों के पीछे? मौ0 ने जवाब दिया- बरेलवियों के पीछे क्योंकि बरेलवी हमारे ज़्यादा करीब हैं, वो हमारे भाई हैं । वो भी इमाम अबू हनीफ़ा के मुक़ल्लिद हैं, हम भी इमाम अबू हनीफ़ा के मुक़ल्लिद हैं । अहलेहदीस तो तक़्लीद को ही नहीं मानते वो ग़ैर मुक़ल्लिद हैं और हमसे बहुत दूर हैं और फिर देवबन्दी और बरेलवी की नमाज़ भी एक है दोनों हनफ़ी फ़िक़्ह के पाबन्द हैं और अहलेहदीस और देवबन्दी की नमाज़ में बहुत फ़र्क़ है । इसलिये देवबन्दियों को अहलेहदीस के मुक़ाबले में बरेलवियों के पीछे नमाज़ पढ़ना चाहिये ।

मौ0 हुसैन अहमद मदनी से बड़ा देवबन्दी और कौन होगा ? आप ज़रा उनकी सुनें । वो अपनी किताब 'अश्शेहाबुस्साक़िब'/15 पर पहले मौ0 क़ासिम नानवतवी के चन्द शे'र लिखते हैं-

उम्मीदें लाखों हैं लेकिन बड़ी उम्मीद ये है
कि हो सगाने मदीना में मेरा नाम शुमार
जियूँ तो साथ सगाने हरम के तेरे फिरूँ
मरूँ तो खाये मदीना के मुझे मूर-ओ-मार
जो ये नसीब न हो और कहाँ नसीब मेरे
कि मैं हूँ और सगाने हरम की तेरे क़तार
उड़ा के बाद मेरी मुश्त ख़ाक को पस मर्ग
करे हुजूर के रोज़े के आस-पास निसार
वले ये रूत्बा कहाँ मुश्त ख़ाक क़ासिम का
कि जाये कूचा अतहर में तेरे बन के गुबार

फिर लिखते हैं- हज़रात इन अशआर के मज़मूनों पर ग़ौर फ़रमायें कि किस क़द्र अख़्लास व मुहब्बत व अक़ीदत बात-बात से टपकती हैं जैसे कि मुहब्बत ख़ातिमुल मुरसलीन अ़लैहिस्सल्लाम में चोर-चोर हैं । इस तरह लीन हैं कि उसके सिवा किसी चीज़ की ख़बर नहीं । नस-नस में उनके प्रति सच्ची निष्ठा समाहित है, क्या यही हालत वहाबिया ख़बीसा की है ? क्या यही कलमात उनकी गन्दी ज़बान से निकलते हैं ? क्या इस तरह की दिल को छूने वाली और बारीक (सूक्ष्म) तहरीरें उनके नापाक क़लमों से लिखे जाते हैं ? हर्गिज़ नहीं-वो ख़ोबसा (ख़बीस लोग) इस तरह की गुफ़्तुगू को मआ़ज़अल्लाह बद दीनी और शिर्क ख़्याल करते हैं, इन मज़मूनों को वाहियात व खुराफ़ात में गिनते हैं । इसी किताब के पेज 60 पर मौ0 हुसैन अहमद मदनी आगे लिखते हैं 'इस लेख से ये भी स्पष्ट हो गया कि हजरत कुतुबुल आ़लम हाजी इमदादुल्लाह कुद्दसुल्लाह सरहुल अ़ज़ीज़ की जितनी रचनायें (तसानीफ़) व अक़ाएद (आस्थायें) हैं उनके, हज़रत मौ0 गंगोही (रह0) बिल्कुल मुवाफ़िक और पैरवी करने वाले हैं और वही अक़ाएद रखते हैं कि जिनके जरिये से धब्बे वहाबियत बिल्कुल ख़त्म हो जाये ।' पेज 62 पर लिखते हैं 'वहाबिया किसी ख़ास इमाम की तक़्लीद (अन्धभक्ति) को शिर्क फ़िर्रिसालत जानते हैं और अइम्मा अरबा और उनके मुक़ल्लदीन (अन्धभक्त) की शान में अलफ़ाज़ वहाबिया ख़बीसा इस्तेमाल करते हैं और इसकी वजह से मसअ़लों में वो

गिरोह अहले सुन्नत वल जमाअ़त के मुख़ालिफ़ (विरोधी) हो गये हैं । चुनांचे ग़ैर मुक़ल्लिद (अन्धभक्ति न करने वाले) हिन्द इसी बुरे कर्मो वाली जमाअ़त के मानने वाले हैं।' पेज 64 पर लिखते हैं उपरोक्त बातों के अलावा और भी मसाएल हैं जिनमें वहाबिया अहले सुन्नत के विरोधी हुए हैं और ये अकाबिर (बड़े), तरीक़-ए-अहले सुन्नत पर साबित क़दम (मज़बूती से जमे) रह कर इस जमाअ़त का विरोध करते हैं । 'इसके बाद वो उन मसाएल का ज़िक्र करते हैं जिनमें देवबन्द के बड़े, अहलेहदीस के विरोधी हैं । मिसाल के तौर पर अल्लाह का अर्श पर विराजमान होना, या रसूलुल्लाह ! कह कर पुकारना, मसल-ए-शफ़ाअ़त, ज़िक्र विलादत-ए-रसूल यानि मीलाद वग़ैरह और औलिया से वसीला वग़ैरह वग़ैरह ।' मौ0 इसी किताब के पेज 66 पर लिखते हैं 'मुजद्दिद बरेलवी और उनकी पैरवी ने जब दीन के इन बुजुर्गों को वहाबियत की तरफ़ मंसूब (सम्बोधित) किया तो उन लोगों ने ये सोचा कि ये हज़रात भी वहाबिया के पूरे मुवाफ़िक़ (सहमत) हैं मगर सच्चाई की उनको खबर ही नहीं वरना वो लोग भी पूरी तरह अ़क़ाएद में इन बुजुर्गों के मुवाफ़िक़ हैं ।' पेज 66 पर ही लिखते है ''वहाबिया ख़बीसा की बड़ी तायदाद सलात व सलाम, दरूद बर ख़ैरूल अनाम अ़लैहिस्सलाम और क़रअ़त और दलाए लुल ख़ैरात व क़सीदा बुरदा व क़सीदा हमज़िया और उसके पढ़ने और इस्तेमाल करने, विर्द (जाप) को बहुत बुरा व मकरूह (नापसन्द) जानते हैं और कुछ शे'र को क़सीदा बुरदा में शिर्क वग़ैरह से सम्बन्धित करते हैं । मिसाल के तौर पर 'ऐ अफ़ज़ल (श्रेष्ठ) मख़्लूक़ात ! मेरा कोई नहीं जिसकी पनाह पकड़ूँ सिवाय तेरे, मुसीबत आने के समय ।' हालांकि मुक़द्दस बुजुर्गाने दीन अपने मानने वालों को दलाए लुल ख़ैरात वग़ैरह की सनद देते रहे हैं और उन्हें खूब दरूद-ओ-सलाम व तहज़ीब व क़रअ़त दलाए लुल ख़ैरात वग़ैरह का हुक्म फ़रमाते रहे हैं । हजारों को मौ0 गंगोही और मौ0 नानवतवी (रह0) ने इजाज़त दी और मुद्दतों खुद भी पढ़ते रहे हैं और मौ0 नानवतवी (रह0) शे'र बुरदा के मिस्ल फ़रमाते हैं-

मदद कर ऐ करम अहमदी कि तेरे सिवा
नहीं है क़ासिम बेकस का, कोई हामी कार।
जो तू ही हमको न पूछेगा, तो कौन पूछेगा
बनेगा कौन हमारा, तेरे सिवा ग़म ख़्वार।

पेज 67 पर लिखते हैं ''पस देखिये किस क़द्र फ़र्क़ इन हज़रात के अ़क़ाएद औ

वहाबिया के अक़ाएद में है ।"

इन हवालों से ये बात दिन के उजाले की तरह वाज़ेह (स्पष्ट) होती है कि देवबन्दी, वरेलवियों के बहुत ही क़रीब हैं और अहलेहदीसों से बहुत दूर । मौ0 हुसैन अहमद मदनी ने ये रिसाला लिखा ही इसलिये है कि वो देवबन्दियों का अहलेहदीस से दूरी और वरेलवियों से नज़दीकी सावित कर सकें ।

जो अहलेहदीस इस धोखे में हैं कि अहलेहदीस और देवबन्दी में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं इसलिये वो देववन्दियों के पीछे अपनी नमाज़ें वरबाद कर लेते हैं, उनको मौ0 हुसैन अहमद मदनी की ऊपर लिखे किताव के हवालों को दुबारा पढ़ लेना चाहिये ताकि उन्हें यक़ीन हो जाये कि देववन्दी और अहलेहदीस में वहुत फ़र्क़ है और ये फ़र्क़ ही देववन्दियों को वातिल फ़िरक़ों में शुमार करने की वड़ी दलील है ।

देववन्दियों की गुमराही की वजह सिर्फ़ उनके ग़लत अक़ाएद ही नहीं । वो अहलेहदीस से वुग्ज़ (ईर्ष्या) रखने की वजह से भी गुमराह हैं । **शाह अब्दुल क़ादिर जीलानी ने अपनी किताब "गुनियतुत्तालेबीन" में बिल्कुल सही लिखा है कि गुमराह फ़िरक़ों की निशानी ये है कि वो अहलेहदीस से बुग्ज़ रखते हैं और उनको बुरा जानते हैं ।**

सवाल - मान लिया कि देववन्दी गुमराह हैं लेकिन मिश्र व सूडान के अन्सारूस्सुन्नह और सऊदिया के सलफ़ियों के वारे में आप का क्या ख़्याल है, क्या वो भी गुमराह हैं या वो अहले हक़ हैं?

जवाव - वो अहले हक़ हैं ।

सवाल- आप तो कहते हैं कि अहलेहदीस ही हक़ हैं, उसके सिवा कोई हक़ नहीं ।

जवाव- वो भी अहलेहदीस हैं । अहलेहदीस से मेरी मुराद नाम अहलेहदीस नहीं वल्कि मज़हव अहलेहदीस है जो कुरआन व सुन्नत से सम्बन्धित है अगर मज़हव, अहलेहदीस हो तो उससे सम्वन्धित नाम चाहे कोई भी हो सव हक़ है एक चीज़ के कई सम्वोधित नाम हो सकते हैं । अगरचे एक हो, तो नाम अलग होने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता अगर मज़हव अहलेहदीस हो तो नाम चाहे अन्सारूस्सुन्नह हो या अहलेसुन्नत मुहम्मदी हो या सलफ़ी अहलेहदीस हो या अस्हावुल हदीस सव ठीक है। ये सब एक ही हक़ीक़त के अलग-अलग नाम हैं, इनमें कोई फ़र्क़ नहीं । ये सब कुरआन व हदीस के मानने वाले और तक़्लीद (अन्धभक्ति) से दूर रहने वाले लोग हैं इसलिये ये सव एक हैं और अहलेहदीस हैं ।

सवाल- आप कहते हैं ये सव एक हैं हालांकि इनमें मसाएल का बहुत इख़्तिलाफ़

(विरोध) है ।
जवाब- मसाएल का इख़्तिलाफ़ बेशक हो लेकिन मज़हब का इख़्तिलाफ़ नहीं। मज़हब सबका एक है । ख़तरनाक, मज़हब का इख़्तिलाफ़ है, मसाएल का इख़्तिलाफ़ इतना ख़तरनाक नहीं । मसाएल का इख़्तिलाफ़ तो सहाबा में भी था लेकिन उनका मज़हब एक था जब उन पर अपनी ग़लती वाज़ेह (स्पष्ट) हो जाती थी तो वो उसे मान लिया करते थे । वो किसी के मुक़ल्लिद (अन्धभक्त) न थे कि एक मसअ्ला बोलने से उनका मज़हब बदल जाये । आज अगर एक हनफ़ी पर ये वाज़ेह हो जाये कि रफ़ाअ् यदैन सुन्नते रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) है और मंसूख़ (रद्द) नहीं है तो वो हनफ़ी, हनफ़ी रहते हुए इस सुन्नत पर अ़मल नहीं कर सकता अगर वो इस सुन्नत पर अ़मल करने लग जाये तो वो हनफ़ी नहीं रह सकता। हनफ़ी उसे फ़ौरन कहेंगे तू ग़ैर मुक़ल्लिद (अन्धभक्ति न करने वाला) और ला मज़हब (अधर्मी) हो गया है । कुरआन ने भी अलगाव (तफ़रीक़) व बरबादी से रोका है क्योंकि ये एक बनावटी चीज़ है और अन्धी तक़्लीद से पैदा होती है । कुरआन ने मामूली इख़्तिलाफ़ से नहीं रोका है । स्वतंत्र विरोध तो एक कुदरती और मानी हुयी बात है, ये हो ही जाता है इसलिये कुरआन ने "ला तख़तलेफ़ू" नहीं कहा "ला तफ़र्रक़ू" कहा है कि फ़िरक़े न बनो । इख़्तिलाफ़ वो ख़तरनाक है जो फ़िरक़ाबन्दी पर निर्भर हो। जब तक फ़िरक़ाबन्दी न हो इख़्तिलाफ़ ख़तरनाक नहीं ।
सवाल- ये तो मेरी समझ में आ गया कि हक़ सिर्फ़ अहलेहदीस है और कोई मज़हब हक़ नहीं । हर ग़ैर अहलेहदीस में कुछ न कुछ गुमराही ज़रूर है लेकिन नमाज़ तो क़रीबन सबकी एक है, इसमें तो कोई लम्बा-चौड़ा फ़र्क़ नहीं अगर ये एक-दूसरे के पीछे पढ़ ली जाये तो क्या हर्ज है ?
जवाब- हर्ज की बात नहीं । अहलेहदीस की नमाज़ किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे होती नहीं । जब कोई ग़ैर अहलेहदीस मज़हब या फ़िरक़ा ठीक ही नहीं तो उसकी नमाज़ कैसे ठीक हो सकती है ? नमाज़ तो मज़हब के ताबेअ् (अधीन) है अगर मज़हब ठीक तो नमाज़ ठीक, अगर मज़हब ग़लत तो नमाज़ ग़लत, अगर मज़हब मुख़्तलिफ़ (विभिन्न) हों तो नमाज़ों में भी बहुत फ़र्क़ होगा ।
सवाल- देवबन्दी और बरेलवी दो मुख़्तलिफ़ फ़िरक़े हैं हालांकि उनकी नमाज़ एक है ।
जवाब- बरेलवी और देवबन्दी फ़िरक़े ज़रूर दो हैं लेकिन उनका बुनियादी मज़हब

एक है । दोनों हनफ़ी हैं और फ़िक़्ह हनफ़ी के मुताबिक़ (अनुसार) नमाज़ पढ़ते हैं इसलिये उनकी नमाज़ एक है लेकिन अहलेहदीस और देवबन्दियों की नमाज़ एक नहीं हो सकती । ये मज़हब भी दो, फ़िरके भी दो । देवबन्दी हनफ़ी- अहलेहदीस मुहम्मदी । हनफ़ी की नमाज़ फ़िक़्ह हनफ़ी के मुताबिक़ हनफ़ी होगी और अहलेहदीस की नमाज़ सुन्नत-ए- नबवी (सल्ललाहु अ़लैहि वसल्लम) के मुताबिक़ मुहम्मदी होगी । अब मुहम्मदी नमाज़, हनफ़ी नमाज़ के अधीन (ताबेअ़) कैसे हो सकती है ? अव्वलन तो हक़ (सत्य) बातिल (असत्य) के तावेअ़ (अधीन) वैसे नहीं हो सकता, हक़ को बातिल के ताबेअ़ करना वैसे ही जुर्म है । दूसरे, मुहम्मदी नमाज़, हनफ़ी नमाज़ के पीछे अदा भी नहीं हो सकती, दोनों में बहुत फ़र्क़ है। हनफ़ी नमाज़ ठूँगें और उठक-बैठक के सिवा कुछ नहीं अगर रसूलुल्लाह (सल्ललाहु अ़लैहि वसल्लम) आज कल के हनफ़ी नमाज़ को देख लेते तो ज़रूर फ़रमाते- "फ़ इन्न क लम तुसल्लि (तू ने नमाज़ नहीं पढ़ी) ।" हनफ़ी नमाज़ की शुरूआत भी ग़लत और ख़त्म भी ग़लत। हनफ़ी नमाज़ की शुरूआत 'अल्लाहु अकबर' के बजाये 'अल्लाहु अजल' और 'अल्लाह आज़म' से भी हो सकती है चुनांचे कुदूरी में है- " पस अगर अल्लाहु अकबर के बजाये अल्लाहु अजल या आज़म या अर्रहमानु अकबर कहे तो इमाम अबू हनीफ़ा और इमाम मुहम्मद के नज़दीक जायज़ है।" - " अगर तशह्हुद की हालत में जानबूझ कर पाद मार दे या किसी से बात कर ले या कोई काम नमाज़ के ख़िलाफ़ कर ले तो इमाम अबू हनीफ़ा के नज़दीक नमाज़ पूरी हो जायेगी ।" यानि सलाम के बदले पाद मारना भी काफ़ी है । मुहम्मदी नमाज़ की शुरूआत अल्लाहु अकवर से ही हो सकती है और किसी कलमा से नहीं हो सकती । हुजूर (सल्ललाहु अ़लैहि वसल्लम) का हमेशा का अ़मल यही था । "इफ़ त त हस्सला त बित्तक बीर (आप नमाज़ अल्लाहु अकबर से शुरू करते) ।" आप (सल्ललाहु अ़लैहि वसल्लम) ने फ़रमाया-"नमाज़ की इब्तिदा अल्लाहु अकबर से ही होती है और इन्तिहा सलाम से ही होती है (तहरीमु हत्तक बी रु व तह लै लु हत्तस लीम)।" सलाम की जगह पाद काम नहीं दे सकता । जब हनफ़ी और मुहम्मदी नमाज़ों में इतना फ़र्क़ हो तो मुहम्मदी नमाज़, हनफ़ी नमाज़ के पीछे कैसे अदा हो सकती है ?
सवाल- नमाज़ ब ज़ाते खुद (स्वयं) एक अच्छा अ़मल है । जो भी पढ़ता, नमाज़ समझकर ही पढ़ता है । ये ग़ैर अहलेहदीस के पीछे भी जायज़ होना चाहिये ।
जवाब- जव नमाज़ एक अच्छा अ़मल है और निजात का ज़रिया है तो उसको

अच्छे तरीक़े से किसी अच्छे इमाम के पीछे ही पढ़ना चाहिये न कि किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे, जो गुमराह भी हो और पढ़ता भी भोंडे तरीक़े से है ।

सवाल- नमाज़ नेकी का काम है। **"और नेकी और परहेज़गारी की बात में एक-दूसरे की मदद करो ।" (माएदह-2)** के तहत इसमें एक-दूसरे से मिल जाना कोई बुरा नहीं बल्कि अच्छा ही है । हज़रत उस्मान ने भी यही कहा था जैसा कि बुख़ारी शरीफ़ में है कि "नमाज़ नेकी का काम है और नेकी के काम में लोगों के साथ शरीक हो जाया करो ।"

जवाब- हज़रत उस्मान की मंशा ये न थी कि बिद्अतियों और मुश्रिकों के पीछे भी नमाज़ पढ़ लिया करो । उनकी मंशा तो बाग़ी गिरोह से थी जो उस वक़्त मदीना पर हावी था । जिनके लीडरों में मुहम्मद बिन अबी बकर भी थे जो हज़रत अबू बक्र का बेटा और हज़रत अली का रबीब (सौतेला बेटा) थे, हज़रत अली ने उनको पाला था । बाग़ियों के बारे में ही हज़रत उस्मान से ये मसअ्ला पूछा गया था कि उनके पीछे नमाज़ पढ़ना कैसा है ? उस वक़्त मस्जिद पर क़ाबिज़ भी वही गिरोह था । लोगों का दिल नहीं चाहता था कि बाग़ियों के पीछे नमाज़ पढ़ें । हज़रत उस्मान के जवाब का मतलब ये था फ़साद में बाग़ियों का साथ न दो लेकिन नमाज़ नेकी का काम है ये उनके साथ मिल कर पढ़ लिया करो । ये न करो जैसा कि आज कल आम लोग करते हैं कि इमाम से ज़रा मुख़ालिफ़त (विरोध) हुई तो फ़ौरन उसके पीछे नमाज़ पढ़ना छोड़ दिया और ये फ़त्वा लगा दिया कि मेरी नमाज़ इस इमाम के पीछे नहीं होती । जिस इमाम से किसी दुनियावी झगड़े की वजह से नफ़रत हो उसके पीछे नमाज़ पढ़ना न छोड़े । जिस बात में मुख़ालिफ़त होगी सो होगी, नमाज़ तो नेकी का काम है उसमें तो कोई मुख़ालिफ़त नहीं । वो तो दोनों की एक है । वो पीछे पढ़ लेनी चाहिये लेकिन जहां इमाम से नफ़रत उसके मज़हब की वजह से हो वहां नमाज़ उस इमाम के पीछे नहीं पढ़नी चाहिये । अगर हज़रत उस्मान के हुक्म को आप इतना ही आम समझते हैं कि नमाज़ हर एक के पीछे पढ़ लेनी चाहिये तो फिर मिर्ज़ाइयों और शियों के पीछे आप नमाज़ क्यूँ नहीं पढ़ते ? अगर नमाज़ को ही देखना है कि ये एक नेक काम है, ये नहीं देखना कि इमाम कौन है, उसका मज़हब क्या है और वो नमाज़ कैसे पढ़ता है तो फिर हर एक के पीछे नमाज़ जायज़ होनी चाहिये । फिर शियों और मिर्ज़ाईयों का फ़र्क़ कैसा ? हालांकि शिया और मिरज़ाई के पीछे देवबन्दी और बरेलवी भी नमाज़ नहीं पढ़ते । सब कहते हैं उसके पीछे हमारी नमाज़ नहीं होती।

आख़िर इमामत की कुछ शर्तें हैं, उनमें इमाम के अ़क़ीदा व अ़मल को बहुत दख़ल है । रसूलुल्लाह (सल्ललाहु अ़लैहि वसल्लम) ने एक शख़्स को इमामत से हटा दिया था, इस वजह से कि उसने क़िबला की तरफ़ थूका था । इससे मालूम हुआ कि जिस काम से अल्लाह के बनाये हुये सिद्धान्त की तौहीन (अपमान) हो, वेहुरमती हो उस काम के करने वाले को इमाम नहीं बनाना चाहिये । विद्अ़ती और मुश्रिक से ज़्यादा इस जुर्म का करने वाला और कौन हो सकता है ? बिद्अ़ती और मुश्रिक दोनों अल्लाह व रसूल की तौहीन करते हैं जो नया दीन और नये-नये माबूद बनाते हैं ।

इमामत एक सम्मान है जो किसी ग़ैर अहलेहदीस को नहीं दिया जा सकता, ग़ैर अहलेहदीस सब बिद्अ़ती हैं-ख़ास कर मुक़ल्लदीन । किसी बिद्अ़ती को ऐसा सम्मान देना बहुत बड़ा गुनाह है । रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने फ़रमाया-"जिसने किसी बिद्अ़ती का मान-सम्मान किया उसने इस्लाम की इमारत गिराने में मदद किया ।" अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) तो ये फ़रमायें और आज कल का अहलेहदीस, देवबन्दियों के पीछे जो यक़ीनन विद्अ़ती हैं। नमाज़ पढ़े-अफ़सोस की बात नहीं है तो और क्या है? इमामत से वड़ा मान-सम्मान और क्या हो सकता है ? ग़ैर अहलेहदीस को इमाम बनाने से उसके ग़लत मज़हब को ताक़त मिलती है। बिद्अ़ती को इमाम बनाने से एक तरह से उसके ग़लत मज़हव की तस्दीक़(संस्तुति) होती है और ग़लत मज़हब की तस्दीक़, हक़ मज़हब की तरदीद्र (इंकार) है । जिससे इस्लाम का बड़ा नुक़्सान है।

सवाल- सुना है हदीस में है- "नमाज़ हर नेक व बद (बुरे) के पीछे पढ़ो ।"

जवाब- अव्वलन तो ये हदीस बहुत कमज़ोर है। इस काबिल नहीं कि इससे दलील दिया जा सके । दूसरे, बद से मुराद यहां ग़ैर अहलेहदीस नहीं बल्कि वो लोग मुराद हैं जो अहलेहदीस हैं लेकिन उनकी अ़मली हालत इतनी अच्छी नहीं । बद अ़मल अहलेहदीस को इमाम बनाने से हक़ मज़हब अहलेहदीस की तौहीन नहीं होती न ही इससे हक़ खराब होता है । जो खराबी, विद्अ़ती और मुश्रिक की पैरवी में है वो गुनाहगार-बदकार की पैरवी में नहीं । चाहिये तो ये कि इमाम हर लिहाज़ से वेहतर हो अहलेहदीस भी हो और वाअ़मल भी लेकिन अगर किसी मिल्ली कोताही की वजह से उसको गुनाहगार व बदकार बोला जाने लगे तो उसके पीछे नमाज़ जायज़ हे । जैसा कि सहावा और तावअ़ीन कुछ उमवी (वनू उमैया की तरफ मंसूव) हाकिमों को गुनाहगार-बदकार समझने के वावजूद उनके पीछे

नमाज़ें पढ़ लेते थे । उस जमाने के इमाम वग़ैरह बिद्अ़ती और मुश्रिक नहीं होते थे न तक़लीद जैसी ख़तरनाक बिद्अ़तो का उस वक़्त रिवाज हुआ था। शुरू-शुरू में सभी लोग लगभग अहलेहदीस थे । अ़मली कोताहियां हों तो हों मज़हब लगभग सभी का एक था ।

सवाल- बिद्अ़ती के पीछे नमाज़ क्यूँ नहीं होती?

जवाब- बिद्अ़ती अल्लाह के दीन को विगाड़ता है इसलिये अल्लाह तआ़ला उसकी नमाज़ कुबूल नहीं करता बल्कि मुक़ल्लिद क़िस्म का बिद्अ़ती तो वैसे ही इस्लाम से निकलने की कोशिश करता है। इब्ने माजा में हदीस है- "बिद्अ़ती का अल्लाह तआ़ला न रोज़ा कुबूल करता है न नमाज़ न हज व उमरा न नफ़िल न फ़र्ज़ वो इस्लाम से ऐसे निकलता है जैसे गूंथे हुए आटे में से बाल।" बुख़ारी शरीफ़ में है- "जो इसमें बिद्अ़त करे या किसी बिद्अ़ती को जगह दे उस पर अल्लाह की भी लानत है और फ़रिश्तों और तमाम लोगों की भी । जब बिद्अ़ती अल्लाह के दरगाह से निकाला हुआ हो तो उसको इमाम कैसे बनाया जा सकता है?

सवाल- बुख़ारी शरीफ़ में तो है कि बिद्अ़ती के पीछे नमाज़ हो जाती है ।

जवाब- पहली बात तो वो किसी का "क़ौल" है। वो अल्लाह के रसूल (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) की हदीस नहीं इसलिये वो दलील नहीं बन सकता । दूसरी बात ये है कि हो सकता है इससे कहने वाले की मुराद बदअ़मली हो, दीन में अलगाव पैदा करने वाला मुक़ल्लिद न हो । बिद्अ़ती से तो जितनी नफ़रत हो उतनी अच्छी है, दीन का बचाव इसी में है । अ़ब्दुल्लाह बिन उमर अपने शागिर्द के साथ नमाज़ पढ़ने के इरादे से एक मस्जिद में दाखिल हुए । अज़ान हो चुकी थी, अज़ान के थोड़ी देर बाद मस्जिद के मोअज़्ज़िन ने तस्वीब की यानि "क़द क़ा मतिस्सलाह" और "हय्य अ़लल फ़लाह" पुकार कर कहा ताकि नमाज़ी, नमाज़ के लिये आ जायें तो अ़ब्दुल्लाह बिन उमर ने अपने शागिर्द हज़रत मुजाहिद से कहा चलो हम यहां से निकल चलें, ये बिद्अ़ती हैं। वो उस मस्जिद से निकल गये, वहां उन्होंन नमाज़ न पढ़ी।

सवाल- अगर बिद्अ़ती इमाम की नमाज़ कुबूल न भी हो तो पीछे पढ़ने वालों की नमाज़ पर तो कोई असर नहीं पड़ता अगर इमाम की नमाज़ न भी हो तो पीछे वालों की नमाज़ तो हो जाती है जैसा कि बुख़ारी शरीफ़ में है ।

जवाब- बुख़ारी शरीफ़ की हदीस का ये मतलब नहीं कि बिद्अ़ती और मुश्रिक के

पीछे नमाज़ हो जाती है । उस हदीस का ये मतलब है कि अगर नेक इमाम की नमाज़ में कोई खराबी रह गयी हो जैसे- वो वुज़ू या गुस्ल करना भूल गया हो या सिर्री (आहिस्ता वाली) नमाज़ में वो भूल गया, उसने अल हम्दो शरीफ़ नहीं पढ़ी तो पीछे वालों की नमाज़ हो जायेगी । इमाम को अपनी नमाज़ लौटानी पड़ेगी "इन असाबू" और "इन इख़ताऊ" के अल्फ़ाज़ ही बता रहे है कि ये नमाज़ की किसी अन्दरूनी ख़राबी के बारें में है जिसका ताल्लुक़ सिर्फ़ इमाम से है पीछे वालों से इसका कोई ताल्लुक़ नहीं । इमामत के बारे में तो आप (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने फ़रमाया- "तुम्हारे इमाम तुममें बेहतरीन लोग होने चाहिये ।" अब ग़ैर अहलेहदीस, अहलेहदीस से बेहतर कैसे हो सकता है ? अहलेहदीस का इमाम बेहतर अहलेहदीस ही होना चाहिये न कि मुक़ल्लिद, मुश्रिक, देवबन्दी और बरेलवी । जो अहलेहदीस देवबन्दियों या बरेलवियों के पीछे नमाज़ें पढ़ लेते हैं वो हक़ीक़त में अहलेहदीस नहीं, वो नाम के अहलेहदीस हैं जो अहलेहदीस मज़हब से बेख़बर हैं। अहलेहदीस को ज़वाल (पस्ती) ही उस वक़्त से शुरू हुआ है जबसे अहलेहदीस अपने मुक़ाम को भूले हैं । वो अपने आप को आ़म फ़िरक़ों जैसा एक फ़िरक़ा समझने लगें हैं, अपनी श्रेष्ठता (फ़ौक़ियत) का तसव्वुर (कल्पना) उनके ज़हनों (दिमाग़ों) से बहुत हद तक निकल गया है । ज़ब तक अहलेहदीसों को अपने महत्व व बुलन्दी का एहसास नहीं होगा वो कामयाब नहीं हो सकते । अहलेहदीस शुरू से इमाम पैदा हुआ है क्योंकि वो हक़ है, उसको इमाम रहना चाहिये कभी किसी के पीछे नहीं लगना चाहिये । अहलेहदीस का किसी के पीछे लगना गोया अहलेहदीसी को अलविदा कहना है ।

सवाल- अगर मजबूरन किसी ग़ैर अहलेहदीस के पीछे नमाज़ पढ़नी पड़ जाये तो फिर ?

जवाब- अव्वल तो कभी ऐसा मौक़ा न आने दे लेकिन अगर कभी बेबसी हो जाये तो अपनी नमाज़ लौटाये ।

सवाल- इसकी क्या दलील है ?

जवाब- मुस्लिम शरीफ़ में है कि रसूलुल्लाह (सल्लल्लाहु अ़लैहि वसल्लम) ने हज़रत अबू ज़र से फ़रमाया- "उस वक़्त तू क्या करेगा जब ऐसे ओमरा S मुसल्लत होंगे जो नमाजों को खराब करेंगे या देर से पढ़ायेंगे तो हज़रत अबू ज़र ने पूछा आप ही बतायें मैं उस वक़्त क्या करूँ ? आप ने फ़रमाया तू अपनी नमाज़ वक़्त पर पढ़ लेना अगर तुझे उनकी जमाअ़त मिल जाये तो उनके साथ शामिल

हो जाना वो तेरी नफ़िल हो जायेंगे ।" (मुस्लिम, जिल्द 1, पेज 183) इस हदीस से ये बात निकली कि अगर इमाम अच्छा नहीं, उसके पीछे नमाज़ पढ़ने से नमाज़ ख़राब होती है तो अपनी नमाज़ अलग पढ़ ले जमाअ़त की परवाह न करे अगर फ़ित्ने का डर हो तो उनके साथ भी शामिल हो जाये ताकि फ़ित्ने से बचा रहे । इस हदीस से नमाज़ लौटाने का सुबूत मिलता है । इमाम कुर्तुबी अपनी तफ़्सीर में लिखते हैं- "जब ओमरा ऽ की दीनी हालत ख़राब हो गयी लेकिन वो लोगों की इमामत करवाते थे और लोग उनको हटा भी नहीं सकते थे इसलिये उनके पीछे नमाज़ पढ़नी पड़ती थी, जैसा कि हज़रत उस्मान ने कहा था कि नमाज़ एक नेकी का काम है नेकी के काम में शामिल हो जाया करो और उनकी बुराई के कामों से बचा करो । पहले लोगों में कुछ तो, ऐसे इमामों के पीछे नमाज़ पढ़ लेते थे लेकिन फिर अपनी नमाज़ लौटा लेते थे और कुछ, न लौटाते। इमाम कुर्तुबी कहते हैं- **"लेकिन मेरी राय यही है कि ऐसे इमामों के पीछे नमाज़ पढ़ कर नमाज़ को लौटाना वाजिब है ।"** इमाम कुर्तुबी अपनी तफ़्सीर में एक दूसरी जगह इस तरह भी साफ़ लफ़्ज़ों में लिखते हैं- **" और अगर ऐसे इमाम नमाज़ पढ़ायें जो फ़ासिक़ (गुनाहगार) हों तो उनके पीछे नमाज़ जायज़ है और अगर इमाम बिद्अ़ती हों तो उनके साथ नमाज़ जायज़ नहीं लेकिन अगर फ़ित्ने का डर हो तो उनके पीछे नमाज़ पढ़ ले फिर अपनी नमाज़ लौटाये ।"**

ऊपर लिखी तमाम तफ़्सीलात के पढ़ने के बाद क़ारी (पाठक) इस सच्चाई तक पहुँच सकता है कि किसके पीछे नमाज़ हो सकती है और किसके पीछे पढ़ना नाजायज़ है । नमाज़ कि, जिसके छोड़ने पर कुफ़्र का फ़त्वा है अगर यही हमारी इबादत सही नहीं हुई तो दूसरी इबादतें क्या सही होंगी । लिहाज़ा- अपनी नमाज़ों की हिफ़ाज़त कीजिये और लोगों को तैयार करने की भरपूर कोशिश कीजिये ।